इंसान की कहानी

मुल्क राज आनंद

इन्सान की कहानी

इन्सान की कहानी

मुल्कराज आनन्द

चित्रकार

एस० चावड़ा

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली बम्बई नई दिल्ली

मूल्य दो रुपये बारह आने

प्रकाशक—राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई।
मुद्रक—गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस, दिल्ली।

बलवन्त गार्गी के नाम

प्रिय बलवन्त,

जब तुम मेरे पास मेरे प्रकाशक का सन्देश यह पुस्तक लिख देने के लिए लाये जिसका वादा मैंने पिछले साल किया था, तो मैंने बिना यह सोचे-समझे ही कि मैं क्या कर रहा हूँ 'हाँ' कह दिया था।

बाद में मुझे एहसास हुआ कि मैंने वह वचन उतावलेपन में ही दे दिया था, क्योंकि जो पुस्तक मैं लिखना चाहता था उसका अस्पष्ट-सा शीर्षक मेरे दिमाग में था—"इन्सान की कहानी"। और इस प्रकार की पुस्तक एक दिन में नहीं लिखी जा सकती। उसमें वर्षों लगेंगे। भूतकाल के बारे में हम बहुत-कम ज्ञान रखते हैं और इसका अनुमान लगाना भी मुश्किल है कि वास्तव में हुआ क्या था।

और फिर भी जब मैंने इस मामले पर सोचा तो मुझे महसूस हुआ कि पुस्तक अवश्य लिखी जानी चाहिए—या तो अभी ही, और नहीं तो फिर कभी नहीं। यदि यह पुस्तक लम्बी न हो सके तो छोटी ही सही। क्योंकि मेरी दृढ़ भावना है कि इन्सान आज चौराहे पर खड़ा है। वह इतिहास की लम्बी सड़क पर यात्रा करता आया है। कई सड़कों पर वह भटक चुका है। टेढ़ी-मेढ़ी गलियों में वह कई बार खो चुका है। और बार-बार वह जीवन के रास्ते पर निकल आया है। लेकिन अब उसे अपने भविष्य का मार्ग चुन लेना है। जैसा कि अधिकांश विचारशील लोग जानते हैं, और मुझे भी महसूस होता है, इस बात पर बहुत-कुछ निर्भर है कि वह कौनसा रास्ता अपनाएगा।

इस चौराहे पर जीवन के विभिन्न मार्गों का निर्देशन करते हुए मार्ग-सूचक स्तम्भ लगे हैं—ऐसे जो हमें खाद्यान्न से भरपूर खेतों और नये बाँधों से सींचे जाने वाले हरे-भरे मैदानों और प्रकाश, प्रेम और प्रसन्नता से भरपूर सुन्दर नगरों की ओर ले जा सकते हैं; और दूसरे मार्ग-सूचक स्तम्भ ऐसे जो मृत्यु, मायूसी, निराशा और अराजकता के मार्गों का निर्देशन करते हैं।

दुनिया में करोड़ों इन्सान हैं; वे कई विभिन्न मार्ग चुनेंगे।

एक समय था जब मैं सोचा करता था कि जीने की इच्छा इन्सान को हमेशा जिन्दगी की राह चुनने को बाध्य करेगी, मौत की नहीं। परन्तु आज मुझे इस पर ज्यादा यकीन नहीं है, क्योंकि कई चालाक लोग इन्सान को ग़लत रास्ते पर ले जा रहे हैं। और इन्सान के भय, शंकाएँ और खास तौर पर उसकी पक्षपात की भावनाएँ उसे और घबरा देती हैं। यदि हम सतर्क न रहे तो हमारी विवेक बुद्धि असफलता को प्राप्त होगी।

तो फिर हम कैसे जानें कि सही दिशा कौनसी है? क्या जो मार्गसूचक स्तम्भ जिन्दगी की राह का निर्देशन करते हैं वे वास्तव में सच्चे हैं? तो फिर आखिर रास्ता कौन दिखाएगा?

पहले दो सवालों का जवाब तभी दिया जा सकता है जब हम तीसरे सवाल का जवाब दें। और वह जवाब है: हरेक इन्सान के लिए अपना रास्ता स्वयं ढूँढना जरूरी है।

लोग पूछते हैं, "लेकिन कैसे?" "हरेक इन्सान अपना रास्ता खुद कैसे ढूँढ सकता है?"

मेरा विश्वास है कि हरेक इन्सान अपना रास्ता चौराहे पर रुककर और अपने-आप से कुछ महत्त्वपूर्ण सवाल पूछकर पा सकता है। मैं इतनी दूर तक कैसे आया? मेरे बुजुर्गों ने इस रास्ते पर आने में मेरी क्या मदद की थी? और मुझ में वह शक्ति कहाँ से आती है जो मुझे आगे बढ़ने को प्रेरित करती है?

यदि कुछ इस तरह के सवाल पूछे जायँ और उनका जवाब दिया जाय तो इन्सान को ये मार्गसूचक स्तम्भ देखते-ही-देखते खुद अपने-आप में ही वह प्रकाश मिल जायगा जो उस अन्धेरी रात को रोशन कर सकता है जिसमें वह खड़ा है।

क्योंकि वह देखेगा कि अपनी कमजोरियों, अज्ञान और इतिहास की बेवकूफियों पर विजय पाने के लिए उसने और उसके बुजुर्गों ने जो-कुछ किया वह कितना विलक्षण है। इन्सान ने अपने-आपको गरम रखने के लिए आग कैसे जलाई, जबकि दुनिया में सिवाय बरफ के और कुछ था ही नहीं। कैसे उसने आग पर 'नियंत्रण' पाया, यहाँ तक कि अब वह जब चाहे बटन दबाते ही बिजली के बल्ब से रोशनी कर सकता है। कैसे उसने सुन्दर-सुन्दर मकान और मन्दिर बनाए, जबकि पहले-पहल वह केवल पहाड़ों की कन्दराओं में रहता था। कैसे उसने जमीन से मौसम की खराबी, आँधियों, ताप, शीत और पानी की कमी के बावजूद भोजन उपजाना सीखा।

सचमुच इन्सान एक आश्चर्यजनक जानवर है—बाकी सभी जानवरों से बड़ा, क्योंकि वह सोच सकता है और अनुभव कर सकता है और अपने ऊपर व अपने आस-पास की चीजों पर नियन्त्रण कर सकता है। वह फूल उगा सकता है और खूबसूरत बगीचे बना सकता है। वह पत्थर तराश सकता है और उससे सुन्दर-सुन्दर आदमियों और औरतों और अपने में स्वयम्भूत शक्तियों की, जिन्हें वह देवता कहता है, मूर्तियाँ बना सकता है।

वह चट्टानों पर रेखाएँ खींच सकता है और कागज पर रेखाएँ जो गाती हुई मालूम होती हैं। वह उन तस्वीरों में ऐसे रंग भर सकता है कि दूसरे इन्सानों की आत्मा उन पर नजर पड़ते ही फड़क उठे। वह पशु-पक्षियों, पेड़ों और पानी की गतिविधि को पकड़ सकता है और अपने शरीर के हाव-भाव द्वारा उन्हें सौन्दर्य से परिपूर्ण मादक नृत्यों में प्रकट कर सकता है। वह अपने और दूसरों के विचारों व भावनाओं पर काबू पा सकता है और उन्हें दिल व आत्मा के भावुक चित्रों के रूप में पूरी नजाकत के साथ कागज पर लिपिबद्ध कर सकता है। वह खुद अपनी मेहनत कम करने के लिए और हवा में उड़ने के लिए मशीनें बना सकता है। वह रेडियो पर बोल सकता है ताकि उसकी आवाज हजारों मील दूर भी सुनाई पड़े। वह परदे पर परछाइयों को बुला, चला और गवा सकता है—इस खूबसूरती के साथ जैसे वे आदमी और औरतें ही हों। वह पृथ्वी की सारी शक्ति को आणविक ढेर में समो सकता है और आज यदि वह चाहे तो उस शक्ति का उपयोग इस प्रकार कर सकता है कि सारी दुनिया में कुछ ही वर्षों में लहलहाती फसलें पैदा हो जायँ और इस तरह दुनिया को गरीबी और बीमारी के चंगुल से निकाला जा सके। यदि वह करना चाहे तो कुछ भी कर सकता है। इसी आश्चर्यजनक शक्ति से जो उसने आणविक समूह में एकत्र कर रखी है, यदि इसे वह अणुबम के रूप में इस्तेमाल करे तो वह अपने-आपको नेस्तोनाबूद भी कर सकता है।

मैं, संक्षेप में ही, विभिन्न क्षेत्रों में इन्सान की कामयाबियों के बारे में लिखने की कोशिश करूँगा। इनसे हम भविष्य की ओर जाने की प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं। हमारे देश में आज इसकी बड़ी जरूरत है कि हम और खास तौर पर हमारे बच्चे उन महान् चीजों के बारे में जानें जिन्हें इन्सान ने पूरा किया है। हमें तो अभी वे चीजें बनाने के लिए भी काफी लम्बा रास्ता तय करना

हैं जो हमारे देश स्वयं अपने या दूसरों के लाभ के लिए बना चुके हैं। दूसरों ने अपने दिल, दिमाग, आत्मा और शरीर को शिक्षित न कर और इतनी चीजें बनाकर जिनका पूरा उपयोग भी वे नहीं कर सकते जो गलतियाँ की, इस मौके पर हम उनसे भी बच सकते हैं। थोड़ा-सा सोच-विचार करने से इन खतरों से बचा जा सकता है।

क्योंकि तुम्हीं ने मुझे यह छोटी-सी पुस्तक लिखने को कहा था, इसे अपने को ही समर्पित करने दो। कई बातों में तुम बिलकुल बच्चों की तरह हो, क्योंकि तुम किसी भी चीज के जवाब में 'ना' स्वीकार नहीं करते। और मुझसे कहा जाता है मैं भी बहुत-कुछ बच्चा ही हूँ, क्योंकि मेरी उत्सुकता कभी शान्त नहीं हो पाती। शायद इन कारणों से यह पुस्तक हमारे अतिरिक्त अन्य बच्चों को भी पसन्द आए, जिनमें मैं हमेशा नौ से नब्बे वर्ष तक के प्रत्येक व्यक्ति को गिनता हूँ।

तुम्हारा,
मुल्कराज आनन्द

सूची

पहला अध्याय

सृष्टि का आरम्भ

[१]

कहते हैं कि एक ऐसा भी ज़माना था जब कहीं कुछ नहीं था, या 'कुछ' था जिसके बारे में हम कुछ नहीं जानते।

इसे कौन जानता है? कौन इसके बारे में कुछ बता सकता है? इसकी उत्पत्ति कैसे हुई? कौन जानता है यह कहाँ से उपजी है? यह सृष्टि कहाँ से आई? ऋग्वेद के कवि ने सृष्टि-स्तोत्र में यही प्रश्न पूछे थे।

और जब वह इस पहेली को हल करने में असमर्थ रहा तो उसने सृष्टि के आरम्भिक रचना-क्रम के बारे में अनुमान लगाने की कोशिश की।

उसने सोचा कि न तो वह स्थिति ऐसी थी कि जिसमें किसी चीज़ का अस्तित्व ही न रहा हो, और न किसी चीज़ का अस्तित्व ही था। न तो वायु थी, और न उसके परे का आकाश। यह गति-चक्र कैसा और क्या था? और कहाँ था? कौन इसे प्रेरित कर रहा था? क्या वहाँ जल और अथाह खाइयाँ थीं?

आज भी हमें उस अतीतकालीन ऋषि से अधिक कुछ मालूम नहीं है।

अब भी हमारे मस्तिष्क में सिर्फ़ सवाल उठ सकते हैं और जवाब के लिए अटकलबाज़ी ही हमारे काम आ सकती है।

चूँकि अब विज्ञान हमारा सहायक है, इसलिए हम आज शायद कुछ अधिक सही अनुमान लगा सकते हैं।

किन्तु हमारा सारा ज्ञान उसी समय से आरम्भ होता है जब इन्सान पृथ्वी पर आया और उसने सोचना शुरू किया। इन्सान के आने के पहले कुछ भी मालूम नहीं था, क्योंकि चीज़ों के बारे में ज्ञान प्राप्त करने वाला कोई था ही नहीं।

इन सबके बावजूद आइए हम अनुमान लगाएं कि सृष्टि के आरम्भ में आखिर था क्या। याद रखिएगा—पृथ्वी ठोस है, इस तथ्य को छोड़कर हम जो भी अनुमान लगाएँ सब एक जैसे ही होंगे।

ऋग्वेद के साहसी ऋषि ने कहा है : आरम्भ में अन्धकार अन्धकार से ही घिरा हुआ था। सृष्टि धुँधली और तरल रूप में थी। यह शून्य समय पाकर आप ही भर गया। तब गरमी की शक्ति से कुछ पैदा हुआ······

[२]

उसी तरह, हम अन्दाज लगाते हैं कि जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं, वह कभी प्रज्वलित आग का बड़ा-सा गोला था। यह कइयों में से एक ग्रह असीमित शून्य में टिका था।

किंवदंतियों में कहा गया है कि यह गोला सूर्य का ही एक भाग था जो सूर्य के किसी दूसरे ग्रह से टकरा जाने के फलस्वरूप टूटकर अलग हो गया था और बहुत समय तक जलता रहा था।

और तब, करोड़ों वर्षों में उसकी सतह पर की आग जलकर समाप्त हो गई और
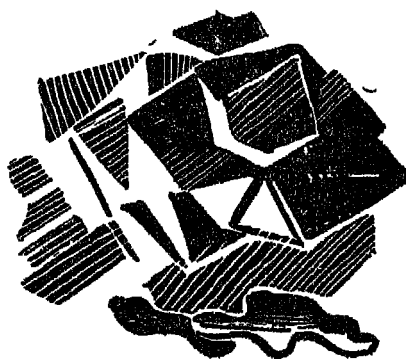
उसकी सतह कड़ी चट्टानों की परत से ढक गई।

इन चट्टानों पर मूसलाधार बारिश हुई और उन पर की राख और धूल बहाकर तपती हुई धुँए से भरी पृथ्वी के बड़े-बड़े पहाड़ों के बीच की घाटियों में ले गई। अन्त में धुएँ और कुहरे में से होकर सूर्य की गरमी आई और हमारे इस छोटे ग्रह की सतह को बदलने लगी।

[३]

इन अरबों खरबों वर्षों में कभी क्षण-मात्र में एक आश्चर्य-जनक घटना घटी। उस निर्जीव पदार्थ से सम्भवतः गरमी के

प्रभाव से, एक जीवित कोष का जन्म हुआ जो शायद उन ऊँची चोटियों के बीच पानी पर तैरता रहा।

हमें नहीं मालूम कितने करोड़ों वर्षों तक यह जीव-कोष और उसकी तरह के कई और कोष अथाह समुद्रों के पानी में तैरते रहे, लेकिन मालूम होता है कि यह कण झीलों की धरातल या समुद्री कछारों पर ही कहीं पड़ा हुआ जीता रहा, जहाँ यह बढ़कर पौधों के रूप में प्रस्फुटित हुआ।

बाद में इस जीवित कण के पैर निकल आए, जिसके सहारे यह समुद्रों के कीचड़ में रेंगता रहा और जेली फिश[1] बन गया। कुछ और कोषों के पर निकल आए और वे पानी में तैरने लगे। और ये ही बढ़कर मछलियाँ बन गए।

जो जीव-कोष पौधे बन गए थे वे सभी समुद्र के धरातल पर न रह सके और उठकर कछारों में आ गए या पहाड़ों की घाटियों में पड़े कीचड़ में बढ़ते रहे।

उनकी संख्या बढ़ती रही और वे बढ़कर झाड़ियाँ व पेड़ बन गए। उनमें सुन्दर फूल निकल आए, और तब जो जीव-कण कीड़े-मकौड़े या पक्षी बन गए थे, उन पर चोंच मारने लगे। इस प्रकार पेड़ों के बीज धरती के दूसरे हिस्सों में पहुँचने लगे। और इसी तरह करोड़ों पेड़ों-पौधों और उनसे भी अधिक झाड़-झाड़ियों की उत्पत्ति हुई।

इनमें से कुछ मछलियाँ पानी छोड़कर हवा में साँस लेने लगीं। इसके लिए गलफड़ों के साथ ही उनके फेफड़े निकल आए। इन जीवों को जल-स्थलचर कहते हैं, क्योंकि ये पानी में और धरती पर दोनों जगह रह सकते हैं। हमारा यह टर्राने वाला दोस्त मेंढक इसी प्रकार का एक जल-स्थलचर जीव है।

---

१. निराकार, वर्णहीन और रेंगता हुआ समुद्री पशु।

लेकिन इसके अलावा कई और भी हैं जिनमें से कुछ ने धरती पर अधिकाधिक और पानी में कम-से-कम रहना सीखा। ये उरंगम थे जो घास और मुलायम मिट्टी पर रेंगते रहे, और उन्होंने पैर और बड़े-बड़े शरीर बढ़ा लिये। उनमें से कुछ जिनके अंग्रेजी में बड़े-बड़े नाम हैं—'इंक्थ्यो सॉरस', 'मेगलो-सॉरस' और 'ओप्टोसॉरस' तीस से चालीस फुट तक लम्बे हो गए, यानी हाथी या ऊँट से भी छः गुना बड़े।

बाक़ी उरंगम जीवों को जो पेड़ों पर रहते थे, चलने के लिए पैरों की ही आवश्यकता नहीं हुई, बल्कि एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर जाने के लिए पंखों की ज़रूरत भी पड़ी। अतः उनके चमड़े का कुछ भाग इस रूप में परिवर्तित हो गया, जो बाद में परों से ढक गए। उनकी पूँछ इधर-उधर घुमा लेने के लिए पतवार-सी बन गई। आज हम जो पक्षी देखते हैं, ये ही उनके आदिपूर्वज थे।

इस विकास-क्रम में एक स्थल पर शायद जलवायु में कोई निश्चित रद्दोबदल हुआ या कोई और घटना घटी और सभी बड़े-बड़े उरंगम जीव मर गए।

और अब पृथ्वी पर एक नये प्रकार के उरंगम जीव रहने लगे। चूँकि ये माँ के स्तनों से दूध पीते हैं, इसलिए इन्हें स्तनपायी जीव कहते हैं।

उनके मछलियों जैसे पर न थे और न ही पक्षियों जैसे पंख। उनके शरीर पर बाल थे। आगे चलकर उनमें बड़ी अच्छी आदतें पैदा हो गईं जिनके फलस्वरूप उन्हें जीवित रहने और अन्य जानवरों से ज्यादा अच्छे बनने में मदद मिली। उदाहरणार्थ, अन्य जानवरों के विपरीत जिनके छोटे-छोटे बच्चों को ठण्ड, गरमी और जंगली जानवरों का सामना करना पड़ता था, मादा स्तनपायी अपने बच्चे के अण्डे अपने शरीर में ही रखती थी। इस प्रकार इनके बच्चों के लिए जीवित रहना अधिक सुगम हो गया और अपनी माताओं से ये अधिक चीजें सीख सके।

अधिकांश जानवर, जो हम अपने चारों ओर या चिड़ियाघर में देखते हैं, स्तनपायी ही हैं।

इन स्तनपायी जानवरों में से एक सबसे श्रेष्ठ निकला और बढ़कर इन्सान के रूप में बदल गया। अपना शिकार थामने के लिए उसने अपने अगले पैरों का इस्तेमाल करना सीखा। शिकार आदि के अभ्यास के कारण उसके अगले पैर हाथ बन गए। और साथ ही, कई कठिनाइयों के बाद शायद उसने पिछले पैरों पर खड़ा होना भी सीख लिया।

यह जानवर जो शायद 'बन्दर या लंगूर' की तरह का, लेकिन दोनों से बेहतर रहा होगा, उनसे ज्यादा अच्छी तरह शिकार कर सकता था और किसी भी जलवायु में रह सकता था। दुश्मनों से ज्यादा आसानी से बचने के लिए यह बाकी स्तनपायी जीवों के साथ ही घूमता फिरता रहा और चीखकर सम्भावित खतरों

से अपने बच्चों को सचेत करता रहा। उसकी चीख बाद में हमारी बातचीत में परिवर्तित हो गई।

यह छोटा, भोंडा-जैसा जन्तु, इन्सान-सा हमारा पहला पूर्वज था।

दूसरा अध्याय

हमारे पूर्वज और हम

[१]

यदि आप सोचने की कोशिश करें कि आप अपने दादा या परदादा, या परदादा के दादा के बारे में कितना जानते हैं तो आपको मालूम होगा कि अपने इन पूर्वजों के बारे में बहुत ही कम या शायद कुछ भी नहीं मालूम है। इसी से आप सोच सकते

हैं कि हमें अपने परदादा के परदादा के परदादा के परदादा के परदादा के परदादा के परदादा के परदादा और उनके पूर्वजों से भी पहले खुरखुरे से इन्सान तक के बारे में जो करोड़ों साल पहले रहता होगा, कुछ भी जानना कितना कठिन है।

लेकिन हमारे कुछ बुद्धिमान् व्यक्ति विश्व के विभिन्न भागों में खुदाई करने से मिली खोपड़ियों और दूसरे अवशेषों को देखकर इन आदि-पूर्वजों के बारे में मालूम करने की कोशिश करते रहे हैं।

यूरोप के एक मनीषी होरेस ने कहा था कि जब हम घूमते-फिरते और यात्रा आदि पर जाते हैं तो हमारे विचार जलवायु के साथ-ही-साथ बदलते रहते हैं। इसी तरह जब हम भूतकाल की यात्रा करते हैं तो हमें मालूम होता है कि जलवायु के कारण इन्सान की जिन्दगी में बड़े रद्दोबदल हुए हैं।

यदि हम दसेक लाख साल पीछे जायँ, जबसे कहा जा सकता है कि स्तनपायी जीव इन्सान की कहानी शुरू हुई, तो हमें चार विभिन्न हिम-युगों की बात मालूम होगी जिनमें से हरेक के बीच हजारों वर्षों की गरमी का अन्तर था। यह हिम-युग शायद पृथ्वी पर सूर्य की गरमी कम हो जाने के फलस्वरूप उत्पन्न हुए। इनके बीच के गरम-युग शायद कथित सूर्य-रश्मियों के विकीरण के कारण आरम्भ हुए। लेकिन ईसा के लगभग ६८ हजार साल पहले एक कड़ी सरदी की लहर आई। उसके बाद ईसा के लगभग २००० साल पहले जलवायु पुनः बदल गई। उसके बाद शीत और ताप के महत्त्वपूर्ण आकस्मिक परिवर्तन नहीं हुए और जलवायु लगभग उसी तरह की बन गई जैसी आज है।

वह खुरखुरा-सा पहला स्तनपायी, जिसे हमने अपना पूर्वज कहा है, इस नाम से इसीलिए पुकारा जाता है क्योंकि वह चीख-चिल्ला सकता था और बोल सकता था और औजार आदि बना लेता था।

अब यह करीब-करीब निश्चित हो गया है कि हमारा पहला

पूर्वज अन्य स्तनपायी जानवरों से मिलता-जुलता ही था जैसे बन्दर, गुरिल्ले, चिम्पैंजी, औरँगऊटाँग और गिब्बन[1] जिनमें से सभी को आप चिड़ियाघर में देख सकते हैं। लेकिन सम्बन्धी होते हुए भी आदमी और बन्दर में दूर का ही रिश्ता है।

हम कल्पना कर सकते हैं कि हमारा पूर्वज बन्दर से ज्यादा आदमी की तरह रहा होगा। देखने में वह बिलकुल 'बन्दर' ही की तरह था। लेकिन जहाँ बन्दर एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर कूदते थे, यह बालों से भरे हुए शरीर वाला छोटा सा आदमी पृथ्वी

1. उपर्युक्त सभी नाम विभिन्न जातियों के बन्दरों के हैं।

पर घूमने और भोजन की तलाश करने लगा।

इस रहस्यमय जन्तु की शक्ल-सूरत, क़द और बनावट वग़ैरह के बारे में दुनिया के विभिन्न भागों में कई संकेत मिले हैं। उदाहरणार्थ, उत्तर-पश्चिमी भारत की शिवालिक पहाड़ियों, केनिया, पूर्वी और दक्षिणी अफ्रीका, पेकिंग और जावा में खोपड़ियाँ मिली हैं जो ऐसी लगती हैं जैसे कि वे बन्दर और इन्सान के सामान्य पूर्वज की खोपड़ियाँ हों।

[२]

खोपड़ी और हड्डियाँ देखकर हम भला यह कैसे बता सकते हैं कि वे बन्दर की खोपड़ियाँ हैं या इन्सान की?

इसका जवाब यही है जैसा कि प्रोफेसर गॉर्डन चाइल्ड ने कहा था कि '*इन्सान अपने-आपको ख़ुद बनाता है*।' वह अपने हाथों और दिमाग का उपयोग करता है।

और जो व्यक्ति हमारा पूर्वज था, अन्य जानवरों से विभिन्न तभी हुआ जब उसने जंगली जानवरों और अपने दुश्मनों को मारने के लिए, या लकड़ियाँ फाड़ने के लिए कुल्हाड़ियाँ और शल्कलों-जैसे औज़ार बनाने शुरू किए।

मालूम होता है कि शल्कलों का इस्तेमाल करने वाले तो 'प्राचीन' लोग थे और हाथ की कुल्हाड़ियों का इस्तेमाल करने वाले 'आधुनिक'।

पहले वाले क़दीम इन्सान का बड़ा सा निचला जबड़ा था, जिससे ज़ाहिर है कि वह कच्चा मांस खाता होगा। प्राचीनतम फ्रांसीसी की खोपड़ी में जो फॉण्टेशावड़े नामक गुफा में मिली है, उस 'आधुनिक' श्रेणी के इन्सान का जबड़ा बिलकुल साधारण मालूम होता

है, जैसे कि आपका या मेरा या पण्डित जवाहरलाल नेहरू का—और उसमें दाँत भी साधारण ही हैं।

यह सोचकर हमारा तो सिर चकरा जाता है कि यह 'आधुनिक' इन्सान भी हज़ारों साल पहले रहता था। इससे इन्सान किस तरह बढ़ा, इसे स्थूल रूप से समझने के लिए विद्वानों ने हमारे पूर्वज जिन हथियारों का उपयोग करते थे उनके अनुरूप ऐतिहासिक और प्रागैतिहासिक युगों को बाँट दिया है।

[३]

उन दीर्घकालीन हिम-युगों में इन्सान प्रकृति के विरुद्ध किसी तरह जीने और भोजन पाने के लिए अपने हाथ-पैरों का उपयोग करना सीख रहा था। इसी से इन्सान की जिन्दगी के विभिन्न पहलुओं का वर्णन इस आधार पर किया गया है कि उसने कैसे-कैसे अपनी जिन्दगी गुज़ारने के लिए नये-नये तरीक़े निकाले।

यह कहानी पाँच लाख वर्ष या ढाई हज़ार वर्ष पहले शुरू होती है। इस स्थिति में इन्सान एक अद्भुत जानवर और भोजन इकट्ठा करने वाले के रूप में अवतीर्ण होता है। वह दूसरे जानवरों का शिकार करता था और भोजनार्थ प्रकृति उसे जो भी दे सकती थी, एकत्र करता था। इन्सान अपनी जिन्दगी के सबसे शुरू में और सबसे लम्बी अवधि तक केवल भोजन इकट्ठा करता रहा। प्राचीन इतिहास का अध्ययन करने वाले पुरातत्ववेत्ताओं ने पृथ्वी पर इन्सान की ८६ प्रतिशत जिन्दगी को प्राचीन पाषाण-युग का नाम दिया है। मानव-शास्त्री, जो मनुष्य का अध्ययन उसे जीव-समाज का अंग मानकर करते हैं, इस स्थिति को 'जंगलीपन' का नाम देते हैं। और भूगर्भ-शास्त्री, जो पृथ्वी की भौतिक स्थिति का अध्ययन करते हैं इसे प्रातिन-नूतन युग कहते हैं। जैसा कि सभी जानते हैं, इस प्रकार भोजन एकत्र करने की आदत अफ्रीका, मलाया और उत्तर-पश्चिमी आस्ट्रेलिया, एवं शीत कटिबन्धों की

कुछ पिछड़ी हुई जातियों के निवासियों में अभी भी प्रचलित हैं।

लगभग दस हजार वर्ष पहले, कुछ लोग, सबसे पहले मध्य-पूर्व में, पेड़ों से मिलने वाले फलों के साथ ही भोजन के लिए कुछ अनाज के पौधे बोने और पालतू जानवर पालने लगे। पुरातत्व-वेत्ता इसे अर्वाचीन पाषाण-युग कहते हैं। मानव-शास्त्री इसे खाद्यान्न पैदा करने की स्थिति या वहशीपन का युग कहते हैं। असल में अर्वाचीन-पाषाण-युग का अर्थ कुछ विस्तृत रूप में लेना चाहिए, क्योंकि आज भी कई जातियाँ उसी युग के पत्थर के औजारों का प्रयोग करती हैं, यद्यपि उन्होंने लोहे और कांसे के और बाद के युग के औजारों का प्रयोग करना भी सीख लिया है।

अगली स्थिति, जिसमें इन्सान इन्सान बना, लगभग पाँच हजार साल पहले नील नदी, दजला, और फरात तथा सिंधु की घाटियों में शुरू हुई। यहाँ कुछ गाँवों में, जो बढ़कर शहर बन गए, समाज ने किसानों को स्वयं उन्हें अपने लिए जितने खाद्यान्न की जरूरत थी, उससे अधिक उपजाने को बाध्य किया। यह अतिरिक्त पैदावार उन्हें दी जाती थी जो खुद खेती नहीं करते थे, जैसे कुम्हार और जुलाहे, पुरोहित और व्यापारी और अफसर। अब इन्सान अपने विचार लिपिबद्ध भी करने लगा, सुन्दर-सुन्दर घर बनाने लगा और सचेत हो रहने लगा। इसी काल को *सभ्यता* कहते हैं।

इस युग को जिसे सभ्यता कहते हैं, पाँच भागों में बाँटा जा सकता है।

(क) इस युग के पहले दो हजार वर्षों को ताम्र-युग कहते हैं, क्योंकि इस जमाने में इन्सान पीतल और तांबे के औजारों और हथियारों का उपयोग करने लगा था। लेकिन ये धातुएँ मँहगी थीं, इसलिए इनका उपयोग केवल राजा, बड़े अफसर, पुरोहित और दूसरे बड़े आदमी ही करते थे जो समाज के सबसे धनी लोग
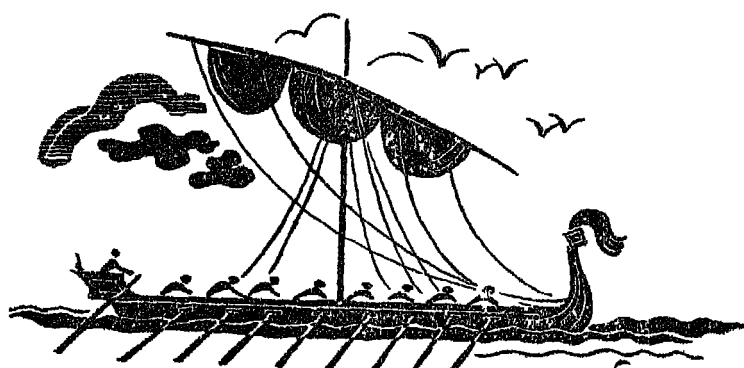
थे। भारत, मिस्र, चीन और दूसरे देशों ने तांबे और पीतल के युगों की उन्नति करने में बड़ी मदद की।

(ख) आरम्भिक लौह-युग ईसा के लगभग बारह सौ वर्ष पहले शुरू हुआ। इसी समय कांति लोहा बनाने का बेहतर तरीका मालूम हुआ। मध्यपूर्व में वर्णमाला के आविष्कार के कारण लिखने वगैरह का, जो अब तक पुरोहितों के हाथ में एक रहस्यमय आश्चर्य बना था, आम प्रचलन हो गया। ईसा के लगभग सात सौ वर्ष पहले चीजें खरीदने और बेचने के लिए सिक्कों का प्रयोग होने लगा। भारतीय यूनानी और रोमन सभ्यताओं में एक जगह से दूसरी जगह को व्यापार का सामान लाने-ले जाने के लिए नावों और जहाजों का उपयोग होने लगा, जिन्हें गुलाम खेते थे। और बहुत से धनी व्यापारी और किसान भी पैदा हुए। जन-संख्या भी बढ़ी, खास तौर पर भूमध्य सागर के आस पास। लेकिन जन-संख्या में वृद्धि गुलामों की दरिद्रता के कारण, जो खेतों में काम करके और चीजें बनाकर वास्तव में यह धन पैदा करते थे, नियन्त्रित ही रही।

(ग) बाद में, भारत में कुछ ग्रामीण प्रजातन्त्रों का जन्म हुआ। यूरोप में बंजारे किसानों को सामन्तों और सरदारों की भूमि पर

नौकरी मिल गई। ये किसान यूनान या रोम की भाँति अब गुलाम न थे बल्कि उनकी भूमि पर खेती करने वाले मालगुज़ार थे। दस्तकारों ने अपने संघ बना लिए जिन्हें 'गिल्ड' कहते थे। नहरों से सींची जाने वाली उपजाऊ भूमि से पैदा होने वाले खाद्यान्न के फलस्वरूप व्यापार व उद्योग भी खूब बढ़ा। यूरोप की जन-संख्या तेज़ी से बढ़ने लगी।

(घ) पश्चिम की उन्नति होने के साथ-ही-साथ साहसी पुरुष समुद्रों में निकले और उन्होंने भारत, अमेरिका व सुदूरपूर्व के रास्ते खोज निकाले। ये सभी देश यूरोप में पैदा होने वाली चीज़ों के बाज़ार बन गए और अटलांटिक देश मशीनों से बड़ी संख्या में तैयार होने वाली चीज़ों के बदले विश्व के सभी भागों से खाद्यान्न का आयात करने लगे। जैसा कि १७५० और १८०० के बीच इंग्लैण्ड की जन-संख्या में वृद्धि के आँकड़ों से मालूम होता है, ये नये प्रयास बूर्जुआ (पूँजीवादी) समाज में अत्यन्त सफल हुए।

(ङ) यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति शीघ्र ही सारी दुनिया में फैल गई और लगभग दो सौ साल पहले, जब अँग्रेज़ों ने भारत जीता तो हम भी इस प्रगति का अंग बन गए।

अब हम स्वतन्त्र हैं। लेकिन हमें अभी भी बहुत-सी चीज़ें सीखनी हैं जिनसे हम अपने सामने आने वाले अवसरों का पूरा लाभ उठा सकें, अपने देशवासियों को अधिकाधिक खुशहाल कर सकें और एक नई एवं अधिक सुन्दर संस्कृति का निर्माण कर सकें।

तीसरा अध्याय

परियों की सच्ची कहानी या खाद्यान्न का रोमांस

[१]

मैंने इस अध्याय को 'परियों की कहानी' का नाम दिया है, क्योंकि जिन बातों की हम यहाँ चर्चा करने जा रहे हैं वे बड़ी विचित्र-सी हैं, यद्यपि वे देखने में साधारण मालूम होती हैं। आदतवश ही तो हम रोटी खाते हैं—भले ही वह चपातियों के रूप में हो या डबलरोटी के टुकड़ों के रूप में। शायद ही कोई पूछता हो यह कैसे बन पाई? आटा कहाँ से आया? और जिस अनाज से आटा तैयार किया जाता है, वह कैसे पैदा होता है? और क्या गेहूँ, धान, जौ सदा से ही उपलब्ध रहे हैं? फिर भी जब हम इसके बारे में सोचते हैं तो खाद्यान्न का उत्पादन भी अच्छा-खासा चमत्कार मालूम होता है।

क्योंकि आदमी में अपने हाथ और दिमाग़ का इस्तेमाल करने की क्षमता है, जैसा कि मैंने पिछले अध्यायों में कहा था, इसी कारण वह पकी-पकाई रोटी या डबलरोटी खा पाता है, जबकि गाय और भैंसें घास खाती हैं और शेर व चीते बकरियाँ व आवारा कुत्तों को खाते हैं।

हमारा अतीतकालीन पूर्वज तब तक जानवरों से बहुत भिन्न नहीं था जब तक उसने खाना पकाना शुरू नहीं किया। आरम्भ में वह भी उसी तरह इधर-उधर घूमता रहा जिस तरह भैंसों, शेरों और हाथियों के झुण्ड घूमते थे और जंगलों में पैदा होने वाली घास, कन्द-मूल और फल जो भी मिल जाता था, खाता रहा।

दिन में सूर्य चमकता था; चन्द्रमा व तारे अन्धेरी रात को प्रकाश देते थे। और मौसम, पृथ्वी के सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाने की वजह से, बदलते रहते थे। घास, झाड़ियाँ और वृक्ष

उगते और खत्म हो जाते थे। हवाएँ चलती थीं और वर्षा होती थी। बहुत लम्बे समय तक, इन्सान अपने आस-पास की कोई भी बात न समझ पाया। वह सिर्फ घने पेड़ों के समूह में एक जगह से दूसरी जगह या एक कन्दरा से दूसरी कन्दरा में घिसटता रहा।

जब इन्सान प्रकृति के तत्त्वों की पुनर्व्यवस्था करने लगा, तभी से उसका प्रभाव बढ़ना शुरू हुआ और वह इस पृथ्वी पर सबसे श्रेष्ठ जानवर बन गया।

[२]

किस तरह इन्सान अपने-आपको बाकी सृष्टि पर हावी कर सका, अपने-आप और अपने पालतू जानवरों तक के लिए अधिकाधिक भोजन प्राप्त कर सका?

शुरू-शुरू में तो वह पेट भी मुश्किल से भर पाता था। पेड़ों से बेर और फल तोड़कर खा लेता था या पक्षियों के अण्डे चुराकर खा लेता था या मधुमक्खियों के पीछे-पीछे जाकर उनके छत्तों से शहद निकाल लाता था। उसके बाद उसने शिकार करने के लिए चकमक या पत्थर के हथियार बनाने सीखे। उसने मांसाहारी जानवरों को घास वग़ैरह खाने वाले निरीह जानवरों का शिकार करते देखा। और जब शीत ऋतु में घास और फल वग़ैरह बहुत ही कम मिल पाते थे, उसने भी इन्हीं जानवरों का शिकार करके उनका गोश्त खाना शुरू किया।

हम कल्पना कर सकते हैं कि वह अपनी कन्दरा के सामने ज़मीन पर उकड़ूँ बैठा किसी पत्थर के टुकड़े को बड़ी सावधानी से गढ़ता व तराशता होगा। हम यह कल्पना भी कर सकते हैं कि इस पत्थर के टुकड़े को सही हथियार का रूप देने के लिए वह कितने परिश्रम और उत्सुकता से तराशता होगा, क्योंकि यदि यह पत्थर का टुकड़ा इतना तेज न हुआ कि शिकार के समय जानवर की खाल में घुसकर उसे मार सके तो उसे भूखा रहना पड़ता

होगा। चकमक पत्थर का यह भद्दा-सा हथियार शिकार को मारने के लिए काफ़ी अच्छा था। लेकिन जल्द ही उस कन्दराओं में रहने वाले इन्सान को महसूस हुआ कि जिन जानवरों का वह शिकार करता है, उनका गोश्त काटने के लिए उसे कुल्हाड़ी की आवश्यकता है। अतः उसने पत्थर के टुकड़ों को और बारीक तराशना शुरू किया और कुल्हाड़ियाँ बनाईं। बहुत से ऐसे ही भोंडे हथियार समुद्री घोंघों के ढेरों में पाये गए हैं। मालूम होता है कि इन्हीं हथियारों का उपयोग वह कछुए और मछलियाँ व दूसरे समुद्री जानवर मारने के लिए भी करता था।

[२]

ऐसा लगता है कि पाषाण-युग के उस इन्सान को एकाएक ही मालूम हो गया कि कच्चे मांस का स्वाद उसे आग में भूनने के बाद बढ़ जाता है। किंवदन्ती है कि सूअर का एक बच्चा एक दिन जलती हुई आग में गिर पड़ा। जब किसी ने उसे निकाला तो उसकी सुगन्ध से उसके मुँह में पानी भर आया और वह उसे चबाने लगा। इस पर कन्दराओं के दूसरे निवासी भी इस आग में भुने हुए सूअर के बच्चे का मांस पाने के लिए छीना-झपटी करने लगे। इस तरह एक नये स्वादिष्ट भोजन का आविष्कार हुआ। आग के आविष्कार की चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे। लेकिन यहाँ इतना अवश्य ही कह देना चाहिए कि आदिकालीन इन्सान के लिए जीवन-निर्वाह के संघर्ष के लिए उठाया गया यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कदम था।

नये पाषाण-युग के लोगों को जल्दी ही मालूम हो गया कि बादाम-जैसे मेवे व बीज वगैरह इकट्ठा करने के बहुत दिनों बाद तक रखे जा सकते हैं। यह दूसरा लाभदायक आविष्कार था। अतः जाड़े में इस्तेमाल के लिए जबकि न तो फल ही मिलते थे और न ही शिकार के लिए जानवर, वे भोजन संग्रह करके रखने लगे।

लेकिन इससे भी बड़ी खोज, पाषाण-युग की क्रान्ति, उस समय हुई जब इन्सान को मालूम हुआ कि ज़मीन में गाड़े गए बीज नये पौधों के रूप में उग आते हैं। उन दिनों के रिवाज के अनुसार कुछ बीज मुर्दों के शरीर के पास ही गाड़े जाते थे और उनसे नये पौधे निकल आते थे। इस तरह इन्सान *भोजन संग्रह करने* और *भोजन एकत्र करने* की स्थिति से बढ़कर *भोजन उत्पन्न करने* की स्थिति पर आ पहुँचा।

हमें याद रखना चाहिए कि ये सभी आविष्कार हज़ारों साल के कड़े परिश्रम के फल थे। क्योंकि परिश्रम ही संस्कृति है, भोजन का उत्पादन या कृषि विश्व की पहली संस्कृति थी। क्योंकि खाद्यान्न पैदा करने में समर्थ होते ही इन्सान को आराम की दूसरी चीज़ों की ज़रूरत पड़ी और वह वे चीज़ें बनाने लगा जो सभ्यता की देन समझी जाती हैं। हमारे जंगली पूर्वजों की 'सभ्यता' हमारी सभ्यता की तरह भले ही न रही हो, लेकिन यह एक तरह की 'सभ्यता' तो थी ही।

जब इन्सान को ज़मीन में बीज बोने की अक्ल आ गई, जो पौधों के रूप में उग आते थे, तो स्वभावतः उसने भोजन इकट्ठा करने और जानवरों का शिकार करने के लिए इधर-उधर भटकते रहने के बदले एक ही जगह रहने का विचार किया। इस तरह अन्न उपजाने वाले एक ही जगह झोंपड़ियाँ बनाकर रहने लगे। और उन्होंने जानवर पालने शुरू किये, जो दूध देते थे। असल

में, उनके लिए गाँव में ही रहना सम्भव था जहाँ जंगली जानवर और दूसरे दुश्मन उन पर हमला न करें। फिर उन्होंने देखा कि एक जगह दूसरी जगह से बेहतर होती है और दस हजार साल पहले, उसे महसूस हुआ कि विश्व में सबसे सुरक्षित और उपजाऊ स्थान पाँच बड़ी नदियों- नील, दजला, फरात, ह्वांगहो और सिंध नदियों—की घाटियाँ हैं।

[४]

विश्व के इन भागों की जलवायु गरम और गीली थी, जबकि यूरोप का अधिकांश भाग बरफ से ढका रहता था। इन्सान ने जब यहाँ अन्न उपजाना शुरू किया, उस समय फ्रांस के कन्दराओं में रहने वाले लोग बारहसिंगों और जंगली घोड़ों का शिकार ही कर रहे थे। पानी की बहुतायत एवं अत्यन्त उपजाऊ मिट्टी के

साथ-ही-साथ ये क्षेत्र आक्रमणकारियों से भी सुरक्षित थे। अतः सैकड़ों वर्षों तक इन्सान यहाँ खेती करता रहा और नई-नई बातें सीखता रहा।

उदाहरण के लिए नील नदी की घाटी में रहने वाले लोगों ने देखा कि नदियों में बाढ़ और वर्षा के बाद ज़मीन कितनी उपजाऊ हो जाती है तो उन्होंने और विस्तृत और फिर उससे भी विस्तृत और फिर उससे भी विस्तृत क्षेत्रों को पानी पहुँचाने के लिए खाइयाँ खोदनी शुरू कीं। ये खाइयाँ पहली नहरें थीं और खाद्य उत्पादन की कहानी में सिंचाई की यह व्यवस्था एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कदम था।
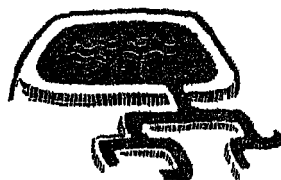
कहा जाता है कि जौ पहला अनाज था जिसे इन्सान ने अपने लिए उगाना सीखा। लेकिन पूर्व के कई भागों में गेहूँ भी पैदा किया जाता था। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आज से छः हज़ार साल पहले मिस्र में गेहूँ भी उपजाया जाता था।

उनके राजाओं की क़ब्रों में हल चलाते हुए, और अनाज काटते हुए लोगों के साथ-ही-साथ ज़मीन पर बैठे, चक्की में अनाज पीसते हुए और लम्बे-लम्बे सींगों वाली गायों का दूध दुहते हुए आदमियों की तस्वीरें भी हैं।

पत्थर की भोंडी कुल्हाड़ियों और ज़मीन खोदने वाले औज़ारों के बाद फावड़ा ही पहली चीज़ था जिसका आविष्कार खेती के लिए हुआ। शुरू-शुरू में मिस्र में इस्तेमाल किया जाने वाला फावड़ा बहुत-कुछ आज के हमारे फावड़े की तरह का ही होता था, लेकिन वह लोहे के बदले चक़मक़ पत्थर का बना हुआ था।

लेकिन फावड़े से ज़मीन खोद-खोदकर बीज बोने के लिए क्यारियाँ बनाना, ख़ास तौर पर जब खेत बड़े-बड़े हों, बड़ी मेहनत का काम है। अतः इन्सान ये क्यारियाँ बनाने के लिए दूसरे तरीक़े सोचने लगा। उसने पत्थर का बड़ा-सा टुकड़ा लिया, उसके

निचले भाग को तेज़ किया और उसे खेत पर घसीटने लगा। जब ज़मीन कड़ी होती थी तो यह औज़ार काम न देता था। इसलिए इस ज़माने के लोगों ने इस टुकड़े में हैण्डल लगाए और एक आदमी इसे पकड़कर खींचने लगा और दूसरा नुकीले भाग को ज़मीन में दबाकर रखने लगा। यही पहला हल था। और यह मानव-इतिहास के सबसे बड़े आविष्कारों में से है, क्योंकि इन्सान बिना भोजन के जीवित नहीं रह सकता गोकि अन्य कई चीज़ों के बिना वह रह सकता है।

समयानुसार इस हल में सुधार होता गया और लोगों ने फ़सल काटने तथा अनाज कूटने के लिए दूसरे औज़ार बना लिए जैसे हँसिये और कांटे। उन्होंने अपने काम में जानवरों की मदद लेनी भी शुरू कर दी। मिस्र में बैल, चीन में गधे, दजला और फरात की घाटी में ऊँट और सिन्ध की घाटी में बड़े-बड़े बैल और सुमेर में घोड़े काम में लाये जाने लगे।

ये लोग खासकर मिस्र और भूमध्य सागर के द्वीपों में, पेड़

और बकरियाँ पालने लगे उनका गोश्त वे खाते थे और उनके ऊन से कपड़े बनाते थे। जो खाद्यान्न बच जाते थे उन्हें ये लोग दूसरे देशों को भेज देते थे। इस तरह हम देखते हैं कि खेतीबारी की बदौलत ही व्यापार और वाणिज्य, चीजों को नापने और तोलने के लिए बाट-बटखड़े, लिखकर संदेश भेजने के लिए अक्षर और अंक, मकान व महल व मन्दिर, कपड़े व जेवर तथा पत्थर, लकड़ी, कांसे और लोहे के बरतन आदि का निर्माण हुआ। मोहेन-जोदड़ो और हड़प्पा में

हमें पुराने समृद्धिशाली नगरों के सभी चिह्न मिलते हैं और हमें मालूम होता है कि हमारे भूखण्ड की सभ्यता कितनी उन्नत थी। सिर्फ सिन्ध की घाटी में ही लोगों ने उन्नति नहीं की, बल्कि चीन के विस्तृत क्षेत्रों में भी की।

खेतीबारी की उन्नति हर जगह बेहतर औजार बनाने पर निर्भर थी।

शुरू-शुरू में लोग अनाज की बालियाँ हाथ से तोड़ते थे। पर इसके शीघ्र बाद ही चकमक पत्थर के बने हुए हँसिये इस्तेमाल होने लगे। इस तरह काटा हुआ अनाज मिट्टी से पुती हुई डलियों में रखा जाता था और उसके बाद मिट्टी के बने बड़े-बड़े घड़ों में।

इनमें से बहुत सी चीजें तो औरतों ने बनाई होंगी, क्योंकि आदमी अभी भी शिकार ही करते थे और औरतों को आटे के

लिए अनाज पीसना पड़ता था। शुरू में वे समतल पत्थर पर लोढ़े से आटा पीसती थीं और बाद में उन्होंने चक्कियाँ बना लीं।

आजकल भी दुनिया के बहुत से हिस्सों में गाय-भैंस आदि दूध देने वाले जानवर औरतें ही दुहती हैं। लेकिन इन मवेशियों को चराने के लिए घास के मैदानों में आदमी ही ले जाते थे। खेती करने वालों के अलावा अहीर और गडरिए खाद्य-पदार्थ उत्पन्न करने वालों में से खास थे। ये मवेशी ही उनका धन थे, इसलिए लोग इनकी रक्षा करने के लिए क़िले बनाने लगे। क़िलों

के चारों ओर वे खाइयाँ और खन्दक खोद देते थे।

जल्दी ही लोगों ने देखा कि अनाज पैदा करने के लिए मोसमों का ध्यान रखना ज़रूरी है। पतझड़ में जबकि वर्षा हो चुकती थी, लोग खेत जोतते थे और मिट्टी के ढोकों को लकड़ी के पटरों से पीट-पीटकर तोड़ते थे; बीज बो दिया जाता था और उसे मिट्टी में गाड़ने के लिए खेतों पर जानवर चलाए जाते थे। अनाज तैयार हो जाने के बाद उसे काटकर साफ करने के लिए खलिहानों में ले जाते थे। कूटने के बाद औरतें सूप या लकड़ी के तख्ते से हवा में अनाज उछाल-उछालकर उससे भूसा अलग करती थीं।

मिस्र में तीन मौसम होते थे, नील नदी के बहाव के हिसाब से—बाढ़ का उतार, जाड़े की शुरुआत और गरमी। और वहाँ, दूसरी जगहों की तरह, महीने की गिनती चाँद के हिसाब से होती थी। महीने में तीन हफ्ते होते थे और हर हफ्ते में दस दिन। तीस-तीस दिन के बारह महीनों से एक साल में ३६० दिन हो जाते थे जिनमें पाँच दिन छुट्टियों के जोड़ दिए जाते थे। बाद में साल की गिनती सूर्य के हिसाब से करने का बेहतर तरीका निकाला गया। और आज तक सिर्फ थोड़े से हेर-फेर के साथ हम यही कैलेण्डर इस्तेमाल करते हैं।

[५]

मिस्र के निवासियों ने अनाज पैदा करने के तरीकों में बहुत उन्नति की और वे दिनों-दिन अमीर होते गए। उनमें से जो सबसे अमीर और शक्तिशाली होता था वह उनका राजा बन जाता था, जिसे 'फेरो' कहते थे। उन लोगों ने मेम्फीस और थीब्स जैसे सुन्दर नगर बसाए।

नील की घाटी के ग़रीब इतने भाग्यवान नहीं थे जितने कि अमीर। उनमें से बहुत से तो ग़ुलाम थे। लेकिन इन ग़ुलामों की

हालत इतनी बुरी नहीं थी जितनी कि शिकार करने वाली जातियों को। इन जातियों के लोगों को कभी भी खाना न मिलने के कारण भूखे मर जाने का डर रहता था। मिस्र के कुछ जमींदार तो ग़रीब किसानों से अच्छा व्यवहार करते थे, जैसे कि उनमें से एक ने जो शाहज़ादा था और ईसा के १६०० वर्ष पूर्व हुआ था, लिखा है, "किसी भी मजदूर को मैंने गिरफ्तार नहीं किया है, और न किसी गडरिए को देश-निकाला ही दिया है। किसी भी जमींदार के मजदूरों को मैंने छीना नहीं। मेरे जमाने में न कोई ग़रीब था और न ही कोई भूखा। अकाल के दिनों में मैं उत्तर से दक्षिण तक अपनी सारी जमीन जोतता था, लोगों को खाना देता था और जिन्दा रखता था। कोई भी भूखा न था। मैंने सभी निवासियों के लिए भोजन उपलब्ध किया ताकि कोई भूखा न रहे। मैंने सभी स्त्रियों को समान दृष्टि से देखा और दान दिया चाहे उनके पति जीवित रहे हों या नहीं। और मैंने छोटे-बड़े का भेद भी कभी नहीं रखा।"

मिस्र वालों ने तरह-तरह की फसलें उगाकर और भिन्न-भिन्न जानवर पालकर देखा। उन्होंने जौ बोये और उससे 'बियर' शराब बनाना सीखा। उन्होंने अँगूर की बेलें लगाईं और अंगूर की शराब

बनाई, खजूर और अंजीर खाना शुरू किया तथा फलियों व साग की तरकारियाँ बनाईं। उन्होंने बत्तख और हंस पाले और वे भुनी हुई बत्तख बड़े चाव से खाने लगे। उन्होंने पटसन और नर-कुल उगाया जिनसे वे कपड़ा, मोमबत्तियाँ, कागज और बहुत सी दूसरी चीजें बनाते थे।

इस तरह मिस्र के निवासियों ने बहुत सी कलाओं को जन्म दिया जो हमारी सभ्यता का आधार हैं। जब उन्होंने औजार बनाने के लिए पत्थर के स्थान पर धातु का इस्तेमाल शुरू किया तो वे इन औजारों से पत्थर के बड़े-बड़े टुकड़े काटने लगे और उनसे खूबसूरत इमारतें बनाने लगे। मिस्र के प्रसिद्ध पिरामिड जो वास्तव में वहाँ के राजाओं के मकबरे हैं, संसार के सात महान आश्चर्यों में से हैं। इनके बनाने में हजारों आदमियों ने काम किया और
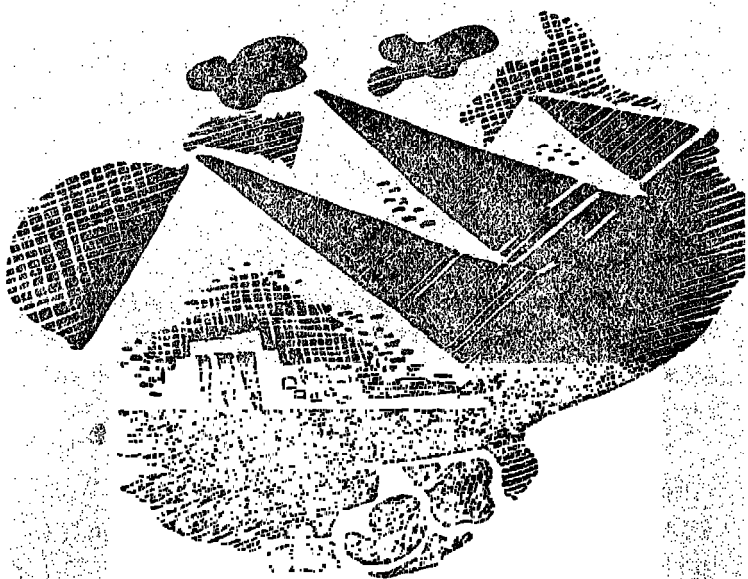
उसमें वर्षों लग गए। बड़ा 'पिरामिड' एक लाख आदमियों ने लगभग बीस वर्ष में तैयार किया था। गुलामों को पत्थर के बड़े-बड़े ठोके, जो छोटे-छोटे मकानों तक के बराबर होते थे, रेगिस्तान में से मीलों ढोकर लाने पड़े थे। उसके बाद उन्होंने ढकेल-ढकेलकर और खींचकर पत्थर के इन टुकड़ों को अपने-अपने स्थान पर जमाया। बड़े पिरामिड के पास ही एक बहुत बड़ी मूर्ति है जिसका सिर आदमी का है और धड़ शेर का, जिसे 'स्फिंक्स' कहते हैं। नील की घाटी के निवासियों द्वारा निर्मित ये और अन्य विशाल मूर्तियाँ व मन्दिर मिस्र की सभ्यता का गौरव हैं। नील की घाटी में अच्छी फसल उत्पन्न करने के लिए लोगों ने देवताओं के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिए ही मानो ये सब चीजें बनवाई थीं।

[६]

दूसरी प्राचीन जाति के लोग, जिन्होंने बहुमूल्य फसलों के आधार पर एक महान् सभ्यता का निर्माण किया, यहूदी थे।

पहले वे बेबीलोन के उत्तर में दजला और फरात नदियों के बीच रहते थे। दोनों नदियों के बीच की भूमि अत्यन्त उपजाऊ थी। और यहाँ भी कुछ प्राचीनतम लोगों ने झाड़-झंखाड़ साफ करके चकमक पत्थर के औजारों से ज़मीन खोदना और अन्न उपजाना शुरू किया और फिर वे साथ-साथ गाँवों में रहने लगे। उन पर राजा शासन करता था, जो कानून भी बनाता था। चार हज़ार साल पहले बनाये गए इन कानूनों की सूची हाल ही में पाई गई है।

ईसा के लगभग दो हज़ार साल पहले एब्राहम नाम का एक व्यक्ति यहूदियों को लेकर नई भूमि की खोज में निकला। वे मिस्र गये और यहाँ उनमें से एक जोहन्ना बड़ा राजनीतिज्ञ बन गया। बाद में मिस्री 'फ़ेरो' ने यहूदियों को सताना शुरू किया। ईसा के लगभग १३२० वर्ष पूर्व मूसा, यहूदियों को मिस्र के बाहर, लाल सागर के पार, कन्नान प्रदेश में ले गए। महान् यहूदी राजा डेविड ने ईसा के लगभग एक हज़ार वर्ष पूर्व येरूशलम को अपनी राजधानी बनाया।

[७]

नील नदी और दजला व फरात के राज्यों के बीच कई लड़ाइयाँ हुईं। दुनिया का नक्शा बदला और नई जातियों का महत्त्व बढ़ गया। इनमें से सबसे महान् फारस के रहने वाले थे, जिन्होंने बबीलोन और मिस्र के कुछ भाग को जीत लिया और भारतवर्ष की सीमा तक बढ़ आए।

खाद्य-उत्पादन की कहानी में फारस वासियों की कोई खास देन नहीं है। लेकिन अपने राज्यों में उन्होंने जो सड़कें बनवाईं उनके फलस्वरूप लोग एक-दूसरे को जानने लगे और पौधे भी एक जगह से दूसरी जगह पहुँचे। जैसे कि प्याज और अनार जो अफगानिस्तान में पैदा होते थे पश्चिम तक पहुँच गए और मुर्गियाँ जो सबसे पहले भारत में पाली जाती थीं, यूरोप पहुँच गईं।

[८]

चीन की सभ्यता भी उतनी ही पुरानी है जितनी मिस्र की।

लेकिन चीन की जमीन कुछ कड़ी थी और वहाँ खाद्यान्न देर में पैदा हो पाते थे। ह्वांगहो और पीली नदी में अक्सर बाढ़ें आती रहती थीं। चीन के दूसरे हिस्सों में अक्सर वर्षा का अभाव रहता था। अपने देश से कहीं दूर बैठे एक चीनी कवि ने ११२१ ई० पू० लिखा था :

आकाश में स्वच्छ बादल छाए हैं
हमारे बीच पहाड़ों की बड़ी-बड़ी दीवारें हैं
मार्ग कठिन और लम्बा है
गहरे गड्ढों ने हमें अलग कर रखा है
मैं तुमसे जीवित रहने की प्रार्थना करता हूँ।

लेकिन चमत्कार का निर्माण करने वाले इन्सान ने इस क्षेत्र में भी बहुत-बहुत पहले अत्यन्त आश्चर्यजनक चीजें बनाकर खड़ी कर दीं। उसने बाँध, नहरें और तालाब बनाकर नदियों की बाढ़ों

पर नियन्त्रण किया। उसने नदियों के दहानों पर बने डेल्टों से पानी लिया, सूखी भूमि की सिंचाई की और पहाड़ों के ढालों पर समतल खेत बनाकर अनाज पैदा किया।

हजारों साल पहले चीन में एक भूमि-विभाग था, तथा निर्माण-विभाग के लिए एक मन्त्री। वह जनता को सलाह देता था कि कौनसी भूमि किस अनाज की फसल के लिए उपयुक्त है, औजारों की देखभाल कैसे करनी चाहिए और खाद कैसे इस्तेमाल करना चाहिए। चीनियों ने गोबर, मछली के टुकड़ों और कूड़े-करकट से खाद तैयार किये। इस तरह उन्होंने अपनी भूमि को उपजाऊ बनाया और साल में एक ही खेत से दो तीन फसलें उगानी शुरू कीं। वे चावल तो पैदा करते ही थे, पेड़ भी उपजाते थे और इनके लिए वे खास तौर पर तैयार किये गए खादों

का इस्तेमाल करते थे। और जमीन से बड़ी मात्रा में खाद्यान्न मिल जाने के कारण, उन्होंने कलाओं में भी उन्नति की। 'छाप-

स्टिकों' से खाना खाने की कला उनके लिए उतनी ही महत्त्वपूर्ण थी जितनी सुन्दर लिखावट, तांबे की मूर्तियाँ बनाना, हाथी-दाँत का काम, चित्रकला, शिल्पकला या शरीफों के तौर-तरीक़ों की चर्चा।

[६]

स्वयं हमारे देश भारतवर्ष में लोगों ने बहुत पहले धान उपजाना शुरू किया। खाने की खोज में भटकते हुए खानाबदोश आर्यों के यहाँ आने के बहुत पहले अर्वाचीन प्रस्तर-युग के निवासियों, द्रविड़ों व उनके पहले की जातियों ने सिन्ध नदी की घाटी में खेती करनी शुरू कर दी थी। यदि उपज इतनी अच्छी न होती तो मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा के शहर इतनी सुन्दरता से न बसाये गए होते, न ही उनमें सोने के सुन्दर जेवर, बरतन, मुहरों व खिलौनों की भरमार होती।

सिन्ध घाटी की सभ्यता ईसा से ढाई हज़ार वर्ष पुरानी थी। पर पता चलता है कि उस समय भी उत्तरी भारत तथा दजला व फरात के देशों में काफ़ी व्यापार होता था। जलवायु बदलने या व्यापार में कमी या किसी अन्य दुर्घटना के कारण यह सभ्यता १७०० ई० पू० या १४०० ई० पू० में एकाएक नष्ट हो गई।

हमारे इतिहास का दूसरा दौर लगभग १५०० ई० पू० आर्यों के भारत पर हमला करने से शुरू हुआ। खानाबदोश आर्यों ने द्रविड़ों से, जिन्हें उन्होंने जीत लिया था, अन्न उपजाना सीखा। ये लोग कुशल घुड़सवार थे और मवेशी तथा भेड़-बकरियाँ चराना जानते थे। लेकिन भारत आने के पहले उन्हें खेतीबारी का अधिक ज्ञान नहीं था। वे गाय-बैल और अन्य जानवरों का मांस खाते थे। लेकिन बाद में सिन्ध और गंगा की घाटियों में पैदा होने वाले अन्न की वे सबसे ज्यादा कदर करने लगे।

इन उपजाऊ क्षेत्रों के आसपास आर्यों ने छोटे-छोटे गाँवों की

नई दुनिया बसाई जहाँ उनकी प्रत्येक आवश्यकता पूरी हो जाती थी। यहाँ किसान गेहूँ, जौ या मक्का बोते थे। कुम्हार उनके लिए मिट्टी के बरतन बनाते थे, लुहार उनके जानवरों के पैरों में नाल जड़ते थे, जुलाहे उनके लिए कपड़ा बुनते थे, अध्यापक उनके बच्चों को पढ़ाते थे और पुरोहित अच्छी फसल के लिए देवताओं से प्रार्थना करते थे। किसान इसके बदले उन्हें खाना देते थे। छोटे-छोटे गाँवों के इन स्वावलम्बी प्रजातन्त्रों में भूमि किसी एक की सम्पत्ति न थी, राजा की भी नहीं। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार था कि अपने और अपने परिवार की आवश्यकता के अनुसार वह जितनी भूमि पर चाहे खेती कर ले। चरागाह भी सभी की सम्पत्ति थे और सभी उनमें अपने मवेशी चरा सकते थे। राजा या मुखिया को अधिकार था कि अपने आदमी भेजकर कर या लगान के रूप में चीजें मँगवा ले। इस मालगुजारी के बदले वह सड़कों की देखभाल करवाता था तथा गाँव की रक्षा के लिए सेना रखता था।

हमारे पुराने गाँव की यह सुव्यवस्थित जीवन-व्यवस्था लगभग अठारहवीं शताब्दी तक चलती रही, जब अँग्रेजों ने भारत पर अधिकार करना शुरू किया। इन छोटे-छोटे ग्रामीण प्रजातन्त्रों की मुख्य विशेषता यह थी कि राजा बदलते रहने पर भी वे कायम रहे। जब आक्रमणकारी क्रूरता से उनकी भूमि पर कब्जा कर लेते थे तो वे अपने जानवर लेकर दूसरी और उपजाऊ भूमि पर जाकर नये प्रजातन्त्र बसा लेते थे। और क्योंकि जमीन बहुत पड़ी थी इसलिए भारत में सदा दूध और घी की नदियाँ बहती रहीं।

भारत और उसके आसपास के द्वीपों की उपजाऊ भूमि, उसके सोने, कीमती मसालों और धन-धान्य की कहानियाँ सुन-सुनकर विदेशी यहाँ आने को ललचाते थे। इसलिए हमारे देश पर

बहुत से हमले हुए, विशेषकर उत्तर-पश्चिम के दर्रों से होकर। यूरोप वालों के आने के बहुत पहले यूनानियों, फारस वालों, सीथियनों, हूणों, पठानों, मंगोलों तथा और बहुत सी जातियों ने हमारे देश पर हमले किये थे और इन आक्रमणों के कारण देश में अकाल पड़े और उसकी सम्पदा नष्ट होती गई। जिन दिनों विदेशी राजा यहाँ शासन करते थे उन दिनों नहरों, कुओं, सड़कों और अन्य इमारतों की देखभाल नहीं हुई।

फिर भी, बहुत अधिक उपज होने के कारण संसार की एक महानतम सभ्यता हमारे देश में फली-फूली। संसार के कुछ प्राचीनतम ग्रन्थों की रचना यहीं हुई। ऋग्वेद के ऋषियों की निर्भयता उनके सृष्टि-सूक्त से स्पष्ट है। अन्य वेदों और उनसे पहले रचे गए उपनिषदों में हमारे महर्षियों का ज्ञान संचित है। महात्मा बुद्ध ने मानव-मात्र के लिए प्रेम और दया का सन्देश सबसे पहले इसी देश में दिया। उन्हीं दिनों महावीर जिन ने पौधों, जानवरों तथा आदमियों के प्रति दया का उपदेश दिया। रामायण और महाभारत जैसे महाग्रन्थों में प्रेम और लोलुपता, क्रोध और दया-

लुता की कहानियाँ मानव-प्रकृति का गहन अध्ययन करने के पश्चात् लिखी गई हैं। कालिदास, हर्ष, बाण और शूद्रक के नाटक तथा अजन्ता की चित्रकारी मनुष्य की उच्चतम कला-कृतियों के नमूने हैं। शिल्प-कला में जो कुशलता हमारे पूर्वजों ने दिखाई वैसी अन्य लोगों में बहुत ही कम दिखाई पड़ती है। तब हमारी नृत्य कला—आदिकालीन खेतों के नृत्यों से लेकर अत्यन्त भाव-पूर्ण भरतनाट्यम तक—गतिपूर्ण सौन्दर्य और सौष्ठव की परा-काष्ठा पर पहुँच गई। और जब तक धरती माता की कृपा से धन-धान्य की बहुतायत रही तब तक हमारे देशवासी ऐसी ही उच्च-कोटि की कलाओं की साधना करते रहे।

[१०]

दुर्भाग्यवश अँग्रेजों की विजय से देश केवल गुलाम ही नहीं हो गया, वरन् उसकी भूमि-व्यवस्था भी बदल गई।

पहले हमारे यहाँ भूमि पर किसी एक व्यक्ति का स्वामित्व नहीं माना जाता था बल्कि प्रत्येक व्यक्ति का उस पर कुछ अधिकार था। किन्तु अँग्रेजों के आने के साथ ही भूमि पर व्यक्ति-विशेष के स्वामित्व का सिद्धान्त यहाँ भी प्रचलित हुआ। खुद उनकी कृषि-व्यवस्था में भी बड़ा हेर-फेर हो चुका था। भूमि पर पहले राजा का स्वामित्व माना जाता था फिर सामन्तों व सरदारों का, उसके बाद अमीर किसानों का। इससे छोटे किसान और खेतिहर-मज-दूरों का बुरी तरह शोषण हुआ। अँग्रेजों के राज्य में भारत में भी यही हुआ। लार्ड कार्नवालिस ने जो कानून बनाया उसके अनुसार पहले बंगाल और फिर सारे देश में जमींदारों का एक अलग वर्ग बन गया। वे अँग्रेज सरकार को थोड़ी मालगुजारी देते थे, किन्तु छोटे खेतिहरों और किसानों से मनमाना धन वसूल करते थे।

इससे छोटे किसान दिनों-दिन गरीब होते गए। बहुतों को गाँव छोड़कर काम ढूँढ़ने के लिए शहर जाना पड़ा। अँग्रेजों द्वारा

खोले गए कारखानों में गाँव से आये हुए सभी किसानों को काम नहीं मिल सका, इसलिए भी बहुत से लोग बेकार व निर्धन हो गए। सिवाय इस बुरी व्यवस्था के जिसमें जमींदार तो सारा धन हड़प लेता था और छोटे किसान भूखों मरते थे या गाँव छोड़कर चले जाते थे, सिंचाई की व्यवस्था में कोई सुधार नहीं हुआ। यही कारण था कि अक्सर अकाल पड़ते रहे। हमारे देश के किसानों की यह दयनीय दशा अब भी जारी है।

विदेशियों की गुलामी ने हमें बरबाद कर दिया, लेकिन हम गुलाम इसीलिए बने क्योंकि हम कमजोर थे। हमारे महाराजाओं और नवाबों ने नहर, तालाब व सड़कों आदि जैसे जन कार्यों की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया था। इसके विपरीत अँग्रेज बिना हमारी मदद करने की किसी इच्छा के ही पश्चिम में ईजाद की हुई मशीनें यहाँ ले आए।

[११]

बरतानिया में भूमि-व्यवस्था में बड़े-बड़े परिवर्तन हुए थे। एक ज़माना था जब किसान खुले खेतों में काम करते थे, थोड़ी-सी भूमि एक साल जोत लेते थे और बाकी खाली पड़ी रहती थी। नॉर्मन-विजय के बाद, किसान अपने-अपने छोटे-छोटे खेतों में या सामन्त या सरदार के खेतों में, जिनका अधिकांश भूमि पर अधिकार था, काम करते रहे। सामन्त ने यह देखने के लिए कि गाँव वाले काम करते रहें, कारिन्दे रख छोड़े थे। इसके फलस्वरूप जितनी मेहनत किसान अपने छोटे-छोटे खेतों पर करते थे उससे अधिक सामन्त के लिए करते थे। चौदहवीं सदी में इंग्लैण्ड में बहुत जोर का प्लेग फैला, जिसे 'काली मौत' कहते हैं और उसमें एक-तिहाई लोग मर गए। खेतों में फसल उगाने के लिए कोई भी आदमी नहीं मिल सका और भूमि बंजर ही पड़ी रही।

अतः जमींदारों ने अपने-अपने खेतों को भेड़ों के लिए चरा-

गाहों में बदल दिया। ऊन का उस समय अच्छा मूल्य मिल जाता था, अतः लार्डों (सामन्तों) ने अधिकाधिक ज़मीन भेड़ों के लिए घेरनी शुरू की। उनके लालच का कोई अन्त न था। उन्होंने सबके उपयोग में आने वाले चरागाह भी घेर लिए, और बेचारे ग़रीब किसानों के पास अपने मवेशी चराने के लिए भी कोई जगह न रह गई।
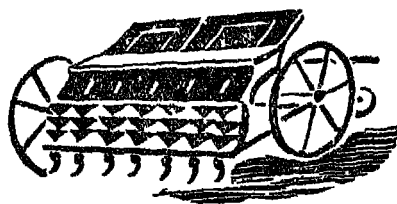
अठारहवीं शताब्दी में लोगों ने अधिक अन्न उत्पन्न करने की बात सोचनी शुरू की। इसी समय के लगभग एक अत्यन्त लाभदायक आविष्कार हुआ। यह आविष्कार था बीज बोने की मशीन का। इससे बीज एक सीध में बोये जाते थे और उतने बर-बाद नहीं होते थे जितने हाथ से छितराकर बोने में। पौधे भी सीधी पंक्तियों में निकलते थे। इन पंक्तियों के बीच उगने वाली घास-फूस को साफ करना भी आसान था। इसके फलस्वरूप एक नये प्रकार की खेती शुरू हुई जिससे गाजर, मूलियाँ और शलजम वग़ैरह उगाए जाने लगे। जाड़ों में ये मवेशियों के खाने के काम आते थे। इस प्रकार पशु-धन की वृद्धि हुई।

तब तक भाप के इंजन का आविष्कार भी हो चुका था और उससे चलने वाली मशीनों के कारण नये शहरों का निर्माण हुआ जहाँ चरखों व करघों के बदले कारखानों में कपड़ा बनने लगा। शहर वाले किसानों से अनाज और मांस खरीदते रहे तथा बहुत से बेकार गाँव वालों को शहरों में काम भी मिल गया।

अतः पुराने 'खुले खेतों' को मिटाने के लिए एक नई तरह का 'घेरा' शुरू हुआ। ज़मींदार और बड़े-बड़े किसान भूमि के बड़े-बड़े चकों को घेरने लगे, जिसमें वे जिस तरह की चाहें खेती कर सकें। इसका फल यह हुआ कि ग़रीब किसान, जिनके पास खेतों पर घेरा लगाने के लिए और नई मशीनें और नये औजार खरीदने के लिए पैसे न थे, अपनी जमीनें बेचकर अपने पड़ोसियों के खेतों पर मजदूरी करने लगे, या शहरों के नये कारखानों में काम करने के लिए चले गए। ग़रीबों के लिए जिन्हें 'झोंपड़ी वाले' कहते हैं, यह बड़ा कठिन समय था। भूख और असन्तोष का बोलबाला था। लेकिन 'नई खेती' ने 'खुले खेतों' पर विजय पाई, क्योंकि पार्लमेंट ने भू-पतियों का समर्थन किया।

फिर भी, इस नई खेती के कारण खेतीबारी के तरीक़ों में अवश्य ही सुधार हुआ। खेती के लिए मशीनों का तो अधिकाधिक इस्तेमाल होने लगा था, पर साथ ही वैज्ञानिकों ने इस बात का पता लगाया कि विभिन्न खादों का उपयोग करके ज्यादा अच्छी फसल पैदा की जा सकती है। इन वैज्ञानिक खादों को रासायनिक खाद
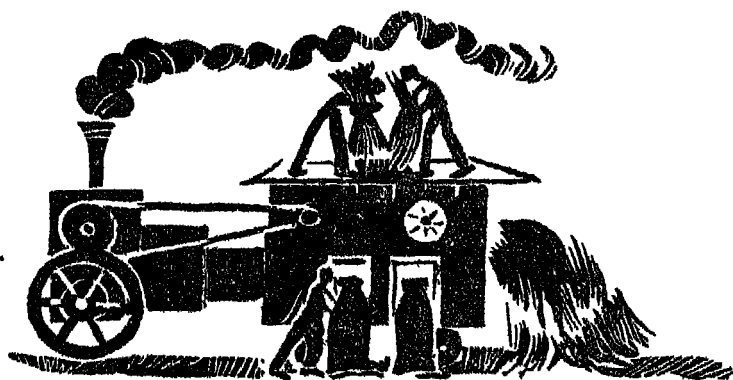
कहते हैं। 'गुआनो' नाम की एक खाद दक्षिण अमेरिका से आई। दूसरी उपयोगी खाद समोनिया साल्ट, कोयले की गैस के उत्पादन के साथ-ही-साथ बनाई जाती है। इस गैस का उपयोग तेल के दियों के स्थान पर रोशनी करने के लिए होना शुरू हो गया।

वैज्ञानिकों ने इस बात का भी अध्ययन करना शुरू किया कि पेड़-पौधे, ज़मीन, हवा और पानी से अपना भोजन कैसे लेते हैं, और भूमि की सिंचाई के ढंग में बहुत से सुधार हुए।

मशीनों में उससे भी ज्यादा तरक्की हुई। अठारहवीं सदी में खेत जोतने के लिए हाथ से चलाए जाने वाले पुराने हल के बदले एक नई उपयोगी मशीन का आविष्कार हुआ। और इस का आम इस्तेमाल होने लगा। यह नया हल या तो पानी से चलता था या हवा की शक्ति से या घोड़ों से। भाप से चलने वाले हल उन्नीसवीं सदी में आए और धान बोने तथा काटने के लिए भी इसी बाष्प शक्ति का इस्तेमाल होने लगा।

बीसवीं सदी में पेट्रोल से चलने वाले नव आविष्कृत ट्रैक्टर किसानों के लिए अधिक उपयोगी मालूम होने लगे। ये ट्रैक्टर खास तौर पर अमेरिका के बड़े-बड़े खेतों और सोवियत रूस के सामूहिक खेतों पर, जहाँ बहुत से किसान मिलकर सामूहिक रूप से खेती करते हैं, बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

ट्रैक्टर से ज़मीन जोती जा सकती है, उपजाई जा सकती है उसकी मदद से धान खलिहानों में एकत्र किया जा सकता है। इससे अनाज पीसने की मशीन को चलाया व रोका जा सकता है यह जड़ें खोदकर निकाल सकता है और बहुत से दूसरे काम कर सकता है। इससे वक्त की बड़ी बचत होती है, जैसे कि इससे एक दिन में पाँच-छः एकड़ ज़मीन जोती जा सकती है जबकि बैलों की एक जोड़ी से दिन-भर में एक ही एकड़ खेत जोता जा सकता है। सुबह से शाम तक एक ट्रैक्टर बीस एकड़ खेत काट सकता है।
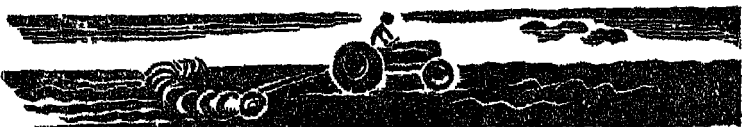
उसके साथ ही दूसरी मशीनों से जड़ें और भूसा निकाला जा सकता है या आटा पीसा जा सकता है। दूसरी मशीनें भी हैं—फसल काटने के लिए, बोने के लिए, सभी तरह के हल, फावड़े और बर्मे तथा दूसरे औजार जिन्हें खाद देने के लिए ट्रैक्टर में लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त आजकल गाय-भैंस दुहने मक्खन निकालने और बोतलों में दूध भरने के लिए बहुत-सी आश्चर्यजनक मशीनें बन चुकी हैं।

[१२]

लेकिन दुनिया में उपलब्ध इन सब मशीनों का प्रयोग भारतीय किसान तभी कर सकते हैं जब जमीन पर उनका अधिकार हो। इसके लिए भूमि-सुधार नितान्त आवश्यक है।

हमारे वैज्ञानिक भाखरा बाँध और दामोदर-घाटी योजना आदि नव-निर्माण के कार्यों में बड़ी दिलचस्पी ले रहे हैं ताकि उन स्थानों में सिंचाई के लिए अधिक पानी उपलब्ध हो सके जहाँ वर्षा पर निर्भर नहीं रहा जा सकता या पानी कम मिलता है।

हमारे देश में अधिक अन्न उपजाने की समस्या सर्वाधिक महत्त्व की है। इसी एक चीज़ पर हम अपनी भावी सभ्यता का निर्माण करने की सबसे अधिक आशा कर सकते हैं। जब तक हम हर साल उतना खाद्यान्न नहीं उपजाने लगते जितने की हमें आवश्यकता है तब तक हम सिर्फ नकली सभ्यता की ही रचना कर सकते हैं। पुरानी दुनिया के किसी विद्वान् ने जैसा कि एक बार कहा था, 'जब खेती शुरू होती है तो अन्य कलाएँ उसके पीछे-पीछे अपने-आप आ जाती हैं।' किसान ही मानव-सभ्यता के संस्थापक हैं।

चौथा अध्याय

जीवनदायिनी चिनगारी

[१]

जब आप बच्चे थे और जाड़ों की रातों में आग के सामने बैठा करते थे, तब की बात शायद आपको याद हो। आपकी माँ आपको राजाओं और रानियों, सूर्य और चन्द्रमा, शेर और गीदड़ व जादू के ग़लीचे तथा अलाउद्दीन के आश्चर्यजनक चिराग़ की कहानियाँ सुनाया करती थीं, लेकिन क्या कभी उन्होंने आपको आग की कहानी भी सुनाई थी ?

मैं नहीं समझता कि उन्होंने सुनाई होगी, क्योंकि यह कहानी हज़ारों साल पहले की है। और शायद वे इसके बारे में जानती भी न हों। आइए, हम आपको आग की कहानी सुनाएँ।

वर्षों पहले जब पाषाण-युग का इन्सान कन्दराओं एवं पेड़ों की खोहों में रहता था, वह अपने आसपास की हरेक चीज़ से डरता था। बादलों की गड़गड़ाहट, बिजली की चमक या वर्षा और तूफ़ान के लक्षण देखते ही वह बचाव के लिए झट अपनी कन्दरा में भाग जाता था। जंगल में वह दूसरे जंगली जानवरों की ही तरह घूमता-फिरता था। पेड़ों से वह फल तोड़कर खा लेता था या भोंडे हथियारों से छोटे-छोटे जानवरों का शिकार कर लेता था और इन जानवरों का कच्चा माँस ही वह खा जाता था। अपने लम्बे-लम्बे तेज़ नाखूनों से वह इस माँस को चीर लेता था और बिना भूने ही वह इसे अपने कड़े दाँतों से चबा डालता था, क्योंकि उसे आग का इस्तेमाल करना नहीं आता था।

आग का इस्तेमाल करना उसे क्यों नहीं आता था ?

जैसा कि मैं आपको बता चुका हूँ, यह पृथ्वी जिस पर हम रहते हैं, सूर्य का ही छोटा-सा टुकड़ा है। सूर्य धधकती हुई आग

का गोला है। कहते हैं जब जलती हुई आग का यह गोला सूर्य से टूटकर अलग हो गया, उसके बाद लाखों वर्षों तक यह शून्य में घूमता रहा और फिर धीरे-धीरे ठण्डा हो गया, जिससे पृथ्वी की कड़ी सतह, पानी तथा दूसरे तत्वों का निर्माण हुआ। आग के इस गोले की बाहरी सतह जो ज़मीन बन गई थी, हिम-युग में जमी ही रही। लेकिन पृथ्वी के नीचे का भाग अभी तक गरम ही है, क्योंकि यह ज्वालामुखी पर्वत से निकलने वाले जलते हुए लावे की तरह है। इस आग का, जो पृथ्वी के गर्भ में छिपी पड़ी है, कन्दराओं में रहने वाले इन्सान को पता न था।

[२]

कहा जाता है उसके बाद एक दिन बिजली गिरने से किसी जंगल में आग लग गई।

कन्दराओं में रहने वाले इन्सान ने यकायक पेड़ों के चटखने और डालों के गिरने की आवाज़ सुनी। उसने सोचा कि कोई दुश्मन लम्बी लाल-लाल जीभ निकाले पेड़ों पर कूदता हुआ और अपने काले-काले बाल आकाश में चारों ओर फैलाए रास्ते में जो कुछ भी पड़ता है उसकी हत्या करते हुए बढ़ा आ रहा है। उसने जाकर अपनी कन्दरा में रहने वाले दूसरे साथियों से इस भयंकर दानव के बारे में कहा।

कन्दराओं में रहने वाले सभी आदमी अपनी-अपनी कुल्हाड़ियाँ और पत्थर के दूसरे भोंडे हथियार लेकर छिपते हुए इस दानव की हत्या करने के लिए निकल आए। लेकिन जंगल जल रहा था और जलते हुए पेड़ चटख-चटखकर गिर रहे थे।

उनमें से एक गुफावासी ने अपनी गदा हवा में घुमाई और निकटतम पेड़ पर दे मारी। पेड़ की जलती हुई डालें दानव के हाथों की तरह मालूम हो रही थीं और धुएँ से घिरी हुई चोटी उसके सिर की तरह; और मालूम होता था कि वह जलता हुआ लाल-

लाल क्रोध उगल रहा हो। पेड़ की जलती हुई एक डाल टूटकर गिर पड़ी। गुफावासियों का झुण्ड बड़ी शान से उसे अपनी

कन्दरा में घसीट लाया। उन्होंने इसे कन्दरा में बन्द किया और इसे कैद रखने के लिए कन्दरा के मुँह पर बड़ा सा पत्थर रख दिया।

दूसरे दिन सवेरे उन्होंने पत्थर हटाया और उनकी सांस फूलने लगी व दम घुटने लगा। और फिर वह दानव मर गया। गुफावासी बाहर ठण्ड में बैठे दरारों में से अपने शत्रु की मृत्यु-यातना देखते रहे।

इसके बाद वे गुफा के अन्दर गये। पेड़ की डाल जल चुकी थी और उस पर राख की तह जमी हुई थी, लेकिन लकड़ी का वह गट्ठा अभी भी गरम था।

गुफावासियों को, जिनके दाँत बाहर की बरफीली ठण्ड से कटकटा रहे थे, गुफा बड़ी आरामदेह मालूम हुई। उनके ठिठुरते हुए हाथ-पैर गरम हुए और वे गरम राख के ढेर के चारों ओर बैठ गए। उन्होंने देखा कि उनका शत्रु पालतू जानवर की तरह चुप-चाप और गरम पड़ा था।

तब सभी गुफावासी जंगल की ओर दौड़े और जलती हुई डालें अपनी-अपनी गुफाओं में घसीट लाए। वह विकराल दानव, जो इतना भयावह मालूम होता था, अब मित्र बन गया और गुफावासी आग के चारों ओर नाचते रहे।

लेकिन तब भी उन लोगों को मालूम नहीं हुआ कि आग आती कहाँ से है। जब बारिश होती थी और आग बुझ जाती थी, तब दोस्त की कमी महसूस होती थी।

[३]

कुछ समय के बाद, ऐसा हुआ कि एक गुफावासी जानवरों को काटने के लिए पत्थर का एक टुकड़ा तेज करके कुल्हाड़ी बना रहा था। वह क्या देखता है कि उस पत्थर पर रगड़ देने से आग की चिनगारियाँ निकलने लगी हैं। वह डरकर अपने साथियों के

पास दौड़ा गया और उसने इन्हें इस भयावह आश्चर्य की बात बताई। दूसरे गुफावासियों ने भी डरते-डरते और चिनगारियाँ निकालने की कोशिश की। उन्होंने देखा कि जब इस तरह का चकमक पत्थर दूसरे चकमक से टकराता है तो इससे पेड़ की पत्तियों में आग लग जाती है। उन्हें यह देखकर अत्यधिक खुशी हुई कि उनका पुराना मित्र अग्निदेव बहुत दिनों तक सोने के बाद फिर जाग उठा है और वापस आ गया है।

इस तरह आग का जन्म हुआ और सदियों तक इन्सान एक चकमक पर दूसरा चकमक रगड़कर इसे पैदा करता रहा। क्या यह अचरज की बात नहीं है कि उस कड़े पत्थर के पेट में कोमल सुखदायी आग की ज्वालाओं का वास हो? लेकिन इन्सान ने शायद इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का पता मिस्र, बेबीलोन, चीन और भारत के प्राचीन देशों में इतिहास शुरू होने के पहले किसी समय लगाया होगा।

बाद में आग जलाने के लिए एक 'शीघ्र दाह्य बक्स' बनाया गया जिसमें चकमक, लोहे का टुकड़ा और कुछ शीघ्र जलने वाली वस्तुएँ रहती थीं। लोहे से पत्थर पर चोट की जाती थी और जो चिनगारियाँ निकलती थीं उनसे ये वस्तुएँ आग पकड़ लेती थीं। इस प्रकार आग की लपटें पैदा हुईं।

इस बक्स को इधर-उधर लाने-ले जाने में बड़ी कठिनाई होती थी। अत. दियासलाई की डिबिया का आविष्कार हुआ। देवदार की लकड़ी को काट-काटकर तीलियाँ बनाई जाती हैं। इनको पैराफिन के तेल में डुबा लिया जाता है ताकि लकड़ी ज्यादा अच्छी तरह जल सके। तीलियों के सूख जाने पर मशीन उनकी नोकों पर गोंद और अन्य चीजों का मिश्रण, जिसमें खास चीज़ फास्फोरस होती है, लगा देती है। फास्फोरस से बने मिश्रण से तीली चटपट सुलग जाती है। और इस तरह आग जेब में रखकर इधर-

उधर ले जाई जा सकती है।

[४]

आइए अब हम देखें कि इन्सान ने किस तरह आग जलाने की दशा में सुधार करके अपने विभिन्न कार्यों के लिए इसका इस्तेमाल करना शुरू किया।

पहले मांस भूनने के अतिरिक्त गुफावासियों के लिए आग का सिर्फ एक ही फायदा था—अपने-आपको गरम करना। वे अँधेरे में ही सोते थे और दिन में सूर्य की रोशनी से काम चलाते थे।

बाद में उन्होंने देखा कि जिन जानवरों को वे भूनते हैं उनकी चरबी चमक सकती है और जल भी सकती है। अतः उन्होंने इस चरबी को पत्थर के खोल में रखा और उसमें भेड़ के थोड़े से ऊन की बत्ती बनाकर लगा दी। यह उनकी पहली लालटैन थी। और दुनिया के कई हिस्सों में आज भी लोग इसका इस्तेमाल करते हैं। हमारे देश में कुम्हार मिट्टी के छोटे-छोटे दिये बनाते हैं, जिनमें तेल और रुई की बत्ती लगाकर हम दीपावली की रात को सैकड़ों की संख्या में जलाते हैं।
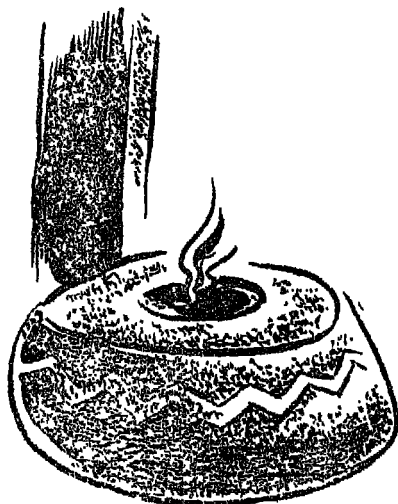
अपने पुराने शास्त्र वेदों में हम पढ़ते हैं कि हमारे पुरखे अग्नि को देवता मानकर उसकी पूजा करते थे और कोई भी

संस्कार बिना अग्नि के पूरा नहीं होता था। पुजारी इसके चारों ओर बैठकर हवन और पूजा आदि करते थे।

मालूम होता है कि हमारे देश में पहले-पहल जो अग्नि-स्थान बनाये गए, वे जमीन में खोदे गए छोटे-छोटे गड्ढों की तरह के या खोखले पत्थर के रूप में थे जिन्हें कमरे के बीच में रख दिया जाता था। इन हवन-कुण्डों में जो लकड़ी जलाई जाती थी वह चन्दन या उसी से मिलती-जुलती होती थी, अतः लोगों को धुआँ बुरा न लगता था और चिमनियाँ नहीं बनाई जाती थीं। दूसरे प्राचीन देशों में भी आग कमरे के बीच में रखे बड़े से पत्थर पर ही जलाई जाती थी। लेकिन वे लोग छत में छेद कर देते थे जिससे धुँआ निकल सके। ठीक तरह की ईंटों की चिमनी बहुत दिनों के बाद बनी।

एक लम्बे अरसे के बाद इन्सान ने वह चरबी बनाने का विचार किया जिसे वह दियों में मोमबत्ती की तरह जलाता था। शायद उसने जाड़े में इस चरबी को बत्ती सहित ही जमते देखा होगा। और

देखा होगा कि इन लैम्पों को एक जगह से दूसरी जगह ले जाया जा सकता था।

शुरू-शुरू में बनी इन बत्तियों को ढिबरी के नाम से पुकारा जाता था क्योंकि यह सिर्फ चरबी में डुबोई हुई बत्तियाँ थीं।

समय गुजरता गया और उससे बड़ी और अच्छी बत्तियाँ बनने लगीं। कई बत्तियों को एक साथ ही जलाने का रिवाज चला क्योंकि वे एक साथ जलने पर सुन्दर लगती थीं। दुनिया के करोड़ों घरों में लोग आज भी झाड़-फानूसों का इस्तेमाल करते हैं जिन पर दिये या मोमबत्तियाँ सजी रहती हैं।

मोमबत्तियों में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वे हवा से बुझ जाती हैं, उनका मोम पिघल जाता है और वे अधिक देर तक नहीं टिक पातीं।

ये कमियाँ उन बुद्धिमान व्यक्तियों की दृष्टि में भी आईं और उन्होंने रोशनी करने के लिए कोई और ढंग निकालने की कोशिश की।

[५]

वह इन्सान सचमुच बड़ा ही बुद्धिमान् होगा जिसने सुन्दर रोशनी देने वाली उससे ज्यादा अच्छी चीज गैस का आविष्कार किया।

जैसा कि शायद आपको मालूम होगा, गैस कोयले से बनती है। उस बुद्धिमान् आदमी ने कोयले के कुछ टुकड़े लिये और उन्हें एक टूटीदार बरतन में डाला जिसे 'रिटॉर्ट' कहते हैं। इस बरतन के नीचे उसने आग जलाई और उसके बाद इसकी टूटी पर सलाई लगाई। बरतन से ही भभककर चमकती हुई लपट निकलने लगी। यही गैस की पहली लपट थी।

आप पूछेंगे कि कोयला कहाँ से आया।

सचमुच ही यह आसान-सी बात समझना बड़ा मुश्किल है।

लेकिन वास्तव में यह बात है बिलकुल सीधी। हज़ारों साल पहले, जैसे कि आपको मालूम है, ज़मीन ठूँठदार पेड़ों के बड़े-बड़े जंगलों से भरी थी। इनमें से कुछ ज़मीन में दब गए और बाकी चीज़ों से मिल गए और युगों तक ये वहीं दबे पड़े रहे और
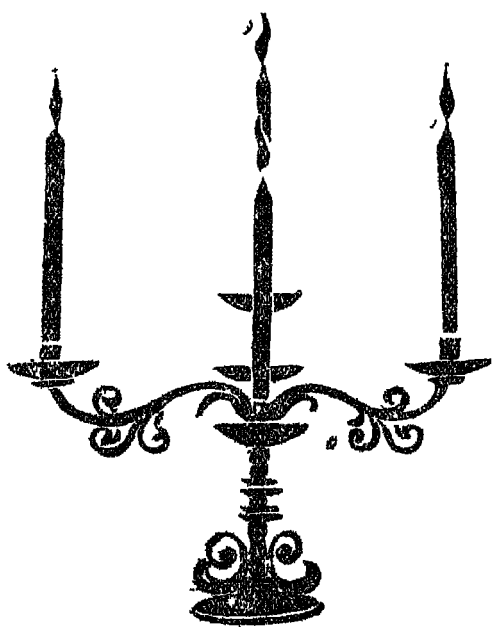
ज़मीन की बाहरी सतह के नीचे ठोस, कड़ी और काली चट्टानों में बदल गए। यही कोयला था।

पहले-पहल कोयले का पता अकस्मात ही चला होगा। उसके बाद इन्सान इसके लिए ज़मीन खोदने लगा। अब भी खान से कोयला खोदकर निकालना बड़ा दुरूह कार्य है। पहले उस स्थान पर जहाँ कोयले की खान हो ज़मीन में गहरा-सा गड्ढा खोदा जाता है। इस गड्ढे को 'शैफ्ट' (खान का मार्ग) कहते हैं। लिफ्ट की तरह का एक पिंजरा इस शैफ्ट से ऊपर-नीचे आता-जाता और लोगों को खान के अन्दर ले जाता है। इसका नियन्त्रण दो पहियों से होता है। शैफ्ट का एक पहिया आदमियों को ऊपर-नीचे ले आता और ले जाता है। और दूसरा पहिया कोयला बाहर लाता है।

किसी के भी खान में उतरने के पहले इस बात की पूरी जाँच कर ली जाती है कि उसके पास कोई दाहक वस्तु तो नहीं है, जैसे कि दियासलाई। क्योंकि जमीन के नीचे कोयले से गैस निकलती है और ज़रा-सी लौ भी यदि उसके निकट आ जाय तो विस्फोट हो सकता है। खनिक अपने साथ बिजली के लैंप ले जाते हैं, और इस रोशनी में वे कोयले पर कुदाली से प्रहार करते हैं और उसे निकालते हैं। यह बड़ा खतरनाक काम है, क्योंकि कोयले की परत ज़रा-सी असावधानी से खुद उनके ऊपर गिर सकती है।

जब कोयले का बड़ा-सा ढेर इकट्ठा हो जाता है तो इसे ट्रकों में लादा जाता है। और इन ट्रकों को कभी खच्चर, कभी आदमी और कभी मशीनें खींचकर शैफ्ट के नीचे तक ले जाती हैं। यहाँ से यह कोयला ऊपर खान के बाहर भेजा जाता है। दिन-भर के कड़े परिश्रम के बाद मज़दूर भी कालिख से पुते चेहरे और गन्दे कपड़े लिये इसी शैफ्ट से रोशनी और ताज़ी हवा की दुनिया में आते हैं।
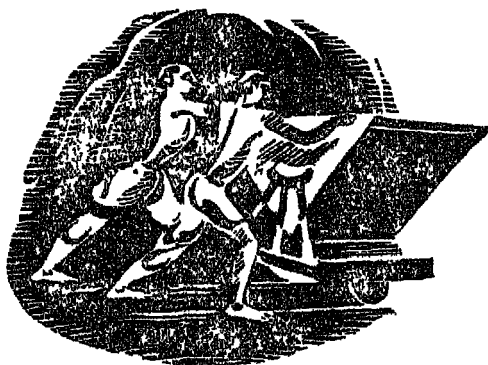
गैस के कारखानों में गैस कोयले को गरम करके और उसमें से निकले हुए धूएँ को रोककर निकाली जाती है। यह गैस देखी नहीं जा सकती, लेकिन सभी जानते हैं इसकी गन्ध कैसी होती है।

इस गैस को बड़े-बड़े गोल गैस के डिब्बों में एकत्र किया जाता है, जिन्हें अकसर किसी भी शहर के बाहर देखा जा सकता

है। इस कोयले से ही पत्थर का कोयला तैयार होता है जिससे अपने घरों में चूल्हे और अँगीठियाँ जलाते हैं। सरदी में यह कोयला हमें गरमी पहुँचाता है। और गैस जो कारखानों से पाइप द्वारा नगर के विभिन्न भागों में पहुँचाई जाती है, कमरों में रोशनी करने, उन्हें गरम रखने और गैस के स्टोव पर खाना पकाने के काम आती है।

[६]

बीसवीं सदी के शुरू-शुरू के सालों तक लोग समझते थे कि गैस बड़ी आश्चर्यजनक चीज़ है। लेकिन बिजली का आविष्कार होने के बाद अब गैस पुरानी पड़ गई है। बिजली बहुत आसानी से जल जाती है और उससे कहीं अच्छी रोशनी देती है। गरमी देने का भी यह उससे कहीं तेज और स्वच्छ माध्यम है। दरअसल इस बिजली से तो महान् चमत्कार हो सकते हैं। इसी से ट्रामें सड़कों पर चलती हैं। इसी से हमारे सिर पर पंखे चलते हैं। इसी की मदद से रेफ्रिजरेटर में बरफ़ जम जाती है। इसी से छापेखाने चलते हैं और हमें रोज़ अपना अखबार मिलता है। यही उन कारखानों को विद्युत् शक्ति देती है जहाँ मशीनें बनती हैं। इसी से आदमी और औरतें परदे पर बोलते-चलते सिनेमा द्वारा हमारा मनोरंजन करते हैं। बिजली का आविष्कार मनुष्य जाति के लिए महान् वरदान है।

भला बिजली में आग का पता कैसे लगा?

बहुत पुराने जमाने में, यूनान निवासियों ने देखा कि यदि अम्बर के दो टुकड़े एक साथ लपेट दिए जायें, तो वे गरम हो जाते हैं और कई छोटी-छोटी वस्तुओं को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। और किसी धातु के टुकड़े के निकट इन्हें रख देने पर चिनगारियाँ निकलने लगती हैं। सदियों तक अम्बर का यह गुण लोगों को आश्चर्यचकित करता रहा। लेकिन १८वीं सदी में ही

जाकर बेंजामिन फ्रेंकलिन ने इस प्रश्न में दिलचस्पी लेनी शुरू की। उसने बहुत से प्रयोग किये। अन्त में वह एक पतंग द्वारा बादलों से बिजली पाने में सफल हुआ। उसी ने ऊँची-ऊँची इमारतों में 'लाइटनिंग कण्डक्टर' (विद्युत् संचालक) लगाने का सुझाव दिया। इमारत पर एक धातु का छड़ लगा दिया जाता है, जो छत से भी ऊपर निकलता रहता है और घर के कोने से होता हुआ नीचे चला जाता है, जहाँ उसका दूसरा सिरा जमीन में गाड़ दिया जाता है। तूफान के समय बादलों में बिजली चमकने के साथ ही बिजली के करण्ट बड़ी मात्रा में आते हैं और इस 'कण्डक्टर' में से होकर आसानी से ज़मीन में चले जाते हैं। इस तरह उस घर की रक्षा हो जाती है जो बिना 'कण्डक्टर' के शायद नष्ट-भ्रष्ट हो जाता।

बाद में, एक इटालियन वैज्ञानिक साइनर लुइगी गैलवानी अपनी प्रयोगशाला में मृत मेंढकों को लेकर कुछ प्रयोग कर रहा था। उसने देखा कि मेंढक के एक पैर के स्नायुओं को धातु के चाकू से छूते ही उसके पैर इस तरह झटकते थे जैसे कि उनमें जान हो। इस वैज्ञानिक ने सोचा कि इसका कारण सम्भवतः बिजली का करण्ट ही है।

उसके बाद इटली के पेविया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर वोल्टा ने सिद्ध कर दिखाया कि बिजली दो धातुओं के एक-दूसरे से स्पर्श करने से पैदा हो सकती है, जैसे कि मेंढक पर इस्तेमाल किये जाने वाले चाकू का लोहा
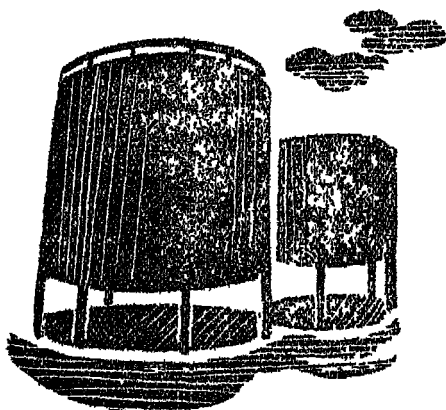
और धातु की उस तश्तरी का पीतल जिसमें वह मरा हुआ मेंढक रखा था। इस तरह मालूम हुआ कि मेंढक के पैर के स्नायु केवल बिजली के संचारक का काम कर रहे थे। बहुत से प्रयोगों के बाद वोल्टा ने पता लगाया कि जस्ता और तांबा बिजली पैदा करने के लिए बाकी सारी धातुओं के मेल से अच्छे हैं। उसने गत्ता लिया और उसे नमक के पानी में डुबोकर उसकी और जस्ते व तांबे की कुछ प्लेटें बनाईं। उसके बाद उसने तांबे का एक टुकड़ा सबसे नीचे रखा, उसके ऊपर जस्ते का एक टुकड़ा और सबसे ऊपर गत्ता।

इन तीनों की कई तहें एक-दूसरे पर रखी गईं। और सबसे नीचे के तांबे के टुकड़े को ढेर के सबसे ऊपर रखे गए जस्ते के टुकड़े से तार के दो टुकड़ों द्वारा मिलाकर वोल्टा ने बिजली की चिनगारियाँ निकाल लीं। इसी प्रयोग से हमें आज मिलने वाली बिजली की बैटरी की नींव पड़ी। इसका सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक वस्तु में दो विभिन्न और बराबर मात्रा में धन और ऋण बिजली होती है। इन्हीं को प्रभार (चार्ज) कहते हैं। जब हम धन और ऋण चार्जों को किसी शक्ति से अलग कर देते हैं तो वे बड़ी तेजी से एक दूसरे की ओर दौड़ते हैं। हम इस तथ्य का लाभ उठाते हैं और उनसे अपना काम करा लेते हैं।

[७]

माइकल फैरेडे जो इंग्लैण्ड में पैदा हुआ था, एक बहुत बड़ा वैज्ञानिक था। उसने बहुत से प्रयोग करके बिजली के बारे में कई सत्यों का पता लगाया। फैरेडे एक लुहार का लड़का था और काम करने के लिए एक जिल्दसाज़ की दुकान पर भेजा गया था। वहाँ उसने जिल्द बाँधने के लिए आने वाली बहुत सी किताबें पढ़ीं। उससे उसकी उत्सुकता बढ़ी। वह विज्ञान में इतनी अधिक रुचि लेने लगा कि उसने रॉयल 'इंस्टीट्यूशन लन्दन में जाकर प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर हम्फ्री डेवी के कई भाषण सुने। वह वहीं एक

सहायक के पद पर नियुक्त हो गया और अन्ततः रॉयल इंस्टीट्यूशन के अध्यक्ष पद तक पहुँच गया। रसायन-शास्त्र और पदार्थ-शास्त्र को उसकी बहुत बड़ी देन है। लेकिन उसका सबसे प्रसिद्ध प्रयोग वह था जिसके द्वारा उसने साबित किया कि एक तार में बिजली का करण्ट, दूसरे तार में भी जो पहले से किसी तरह सम्बद्ध न हो उसी प्रकार का करण्ट पैदा कर सकता है। पारिभाषिक रूप से इसे विद्युत्-प्रवेपण (इलैक्ट्रिक करण्ट) कहते हैं। और १८३१ में की गई इस महत्त्वपूर्ण खोज के आधार पर सभी डायनमों जैसी मशीनें बनी हैं जो हमारे घरों में रोशनी के लिए विद्युत् करण्ट पैदा करती हैं, ट्रामें चलाती हैं और कारखानों में जिनसे सैकड़ों मशीनें चलती हैं। माइकल फैरेडे ने इस बात का भी पता लगाया कि लवण के चूरे और मिश्रणों से बिजली का करण्ट किस तरह संचारित हो सकता है। इससे क़ीमती जेवरात पर सोने-चाँदी का मुलम्मा चढ़ाना और 'इलेक्ट्रोप्लेटिंग' के दूसरे तरीके सम्भव हो गए। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि आग के बदले बिजली का प्रयोग करना बहुत हद तक फैरेडे के आविष्कारों की ही देन है।

हमें बिजली के व्यावहारिक उपयोगों को भूलना न चाहिए। क्योंकि इन्सान ने जीवन को अधिक सुखदायी बनाने और अपने मनोरंजन के लिए ही इन चीजों का आविष्कार किया।

विद्युत्-शक्ति के अतिरिक्त, जिससे हमारे कारखाने चलते हैं और हमारे लिए हज़ारों तरह की चीजें बनती हैं, हमारे पास टेलीफोन है। इससे हम अपने शहर के मित्रों से और हज़ारों मील दूर इंग्लैण्ड और फ्राँस में बैठे हुए लोगों से भी बातचीत कर सकते हैं। बिना बिजली के यह सम्भव नहीं हो सकता था।

उसके बाद रेडियो, जो एक तरह का बेतार का टेलीफोन ही है, ब्रॉडकास्टिंग स्टेशन से करोड़ों श्रोताओं को सन्देश भेज सकता है या संगीत सुना सकता है। रेडियो तूफ़ान व प्रकृति के अन्य प्रकोपों की चेतावनी देता है ताकि जहाज़, और छोटी-छोटी नावें भी, यह जानते हुए कि उन्हें किन खतरों से बचना है, गहरे समुद्रों में निर्भय यात्रा कर सकें।

बिजली की एक मशीन है जो एक घण्टे में डबलरोटी के उन्नीस हज़ार टोस्ट काट सकती है। पाश्चात्य देशों में बिजली से चलने वाले रेस्टराँ भी हैं। ग्राहक वहाँ आकर जो भोजन चाहता है चुन लेता है। उसकी कीमत वह एक छेद में डाल देता है। आलमारी का ढक्कन अपने-आप खुल जाता है और ग्राहक अपना भोजन लेकर मेज़ पर चला जाता है। भोजन समाप्त करने के बाद वह गन्दी तश्तरियों को बिजली से घूमने वाली एक पेटी पर रख देता है। यह तश्तरियाँ बिजली की घूमने वाली एक मशीन में चली जाती हैं जो विभिन्न तश्तरियों को चुनती है, धोती है और सुखा देती है।

बिजली से चलने वाले हल भी हैं जिनसे खेत जोते जा सकते हैं। बिजली से गायें भी दुही जाती हैं।

वैज्ञानिक और डॉक्टर मानव-शरीर के आन्तरिक अवयवों
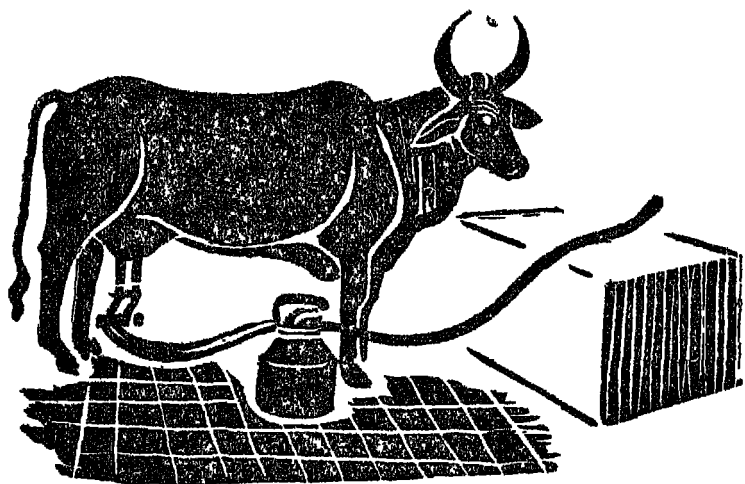
के चित्र 'एक्सरे' से ले सकते हैं। इससे उन्हें मालूम हो जाता है कि शरीर में क्या विकार है। कपड़ों पर इस्तरी करने के लिए बिजली की इस्तरियाँ हैं। टोस्ट सेकने के लिए बिजली के स्टोव और कमरा गरम करने के लिए बिजली के 'हीटर' हैं। दुनिया में, और भारत में भी, हज़ारों मील तक रेलगाड़ियाँ बिजली से चलती हैं। इन रेलों के लिए निरन्तर धुआँ उगलने वाले इंजन की ज़रूरत नहीं होती। विश्व की बहुत सी राजधानियों में जमीन के नीचे चलने वाली रेलें हैं। यात्री इन रेलगाड़ियों तक लिफ्ट द्वारा जाते हैं जो बिजली का बटन दबाने से ही चलती हैं।

और आज अणु-शक्ति के कारण जिन आश्चर्यजनक सम्भावनाओं की कल्पना होने लगी है, उसके सामने यह सब बच्चों का खेल मालूम होता है।

[८]

हम अणु-बमों के बारे में बहुत-कुछ सुनते हैं, जो पूरे-पूरे

नगरों को क्षण-मात्र में नेस्तनाबूद कर सकते हैं। इस तरह के बम द्वितीय महायुद्ध के दौरान में जापान में हिरोशिमा और नागासाकी पर गिराये गए थे। उन्होंने मीलों तक जो-कुछ भी था मिट्टी में मिला दिया। दुर्जन राजनीतिज्ञ आज भी जो-कुछ भी वे कहते हैं यदि हम उसे करने को तैयार न हों तो हमें उससे भी भयानक अणुबमों की धमकी देते हैं।

किन्तु यदि विश्व को केवल उन भली चीजों के बारे में मालूम होता जो अणु-शक्ति के उचित उपयोग से मिल सकती हैं तो विश्व की ग़रीबी और दुख बहुत-कुछ दूर हो जाते।

अणुशक्ति का आविष्कार महान् चमत्कार-सा मालूम होता है। केम्ब्रिज के एक वैज्ञानिक लार्ड रूदर फोर्ड ने इस सदी के आरम्भ में अणु को फाड़ने की कोशिश शुरू की। अणु, जैसा कि आप जानते हैं, पदार्थ का छोटे-से-छोटा कण है। उससे भी छोटे कण होते हैं जिन्हें तड़ित परमाणु (इलेक्ट्रोन मौलिक्यूल) कहते हैं। यह आश्चर्य की बात है कि छोटे-से-छोटा यह कण विच्छिन्न होने पर इतनी अधिक शक्ति या आग दे सकते हैं जितनी और कहीं से भी प्राप्त नहीं हो सकती। सचमुच यह बड़ा कठिन और दुरूह प्रयोग है। लेकिन इससे मालूम होता है कि इन्सान स्वयं कितना आश्चर्यजनक है कि वह एक यन्त्र बनाकर जीवन के दैनिक कार्यों में उपयोग के लिए इतनी अधिक शक्ति उसमें एकत्र कर सकता है।

यदि अणु-शक्ति का उपयोग जीवनोपयोगी कार्यों के लिए किया जाय तो यह थोड़े-से-थोड़े समय में लहलहाती फ़सलें पैदा कर सकती है, तेज-से-तेज रफ़्तार पर जहाज़ और वायुयान चला सकती है, पहाड़ तोड़ सकती है और नदियों के रास्ते बदल सकती है। वास्तव में, अणु के इस्तेमाल से हमारे काम के घण्टे कम-से-कम हो सकते हैं जिससे हम सबको पढ़ने लिखने, सोचने-समझने, अनुभव करने और ज्यादा अच्छी तरह रहने के लिए काफी फ़ुरसत

मिल सके।

क्योंकि ये सारी शक्तियाँ अतीतकालीन मानव द्वारा जलाई गई उस पहली चिनगारी से ही उत्पन्न हुई हैं, बहुत से विद्वानों के विचार से आग ही जीवन का मुख्यतम सिद्धान्त एवं प्रधान जीवनदायिनी शक्ति है। महान् आयरिश लेखक जार्ज बर्नर्ड शा ने प्रत्येक वस्तु का विश्लेषण जीवन-शक्ति के शब्दों में किया है। फ्रांसीसी मनीषी बर्गसन का भी यही विचार था। इस विचार में बहुत-कुछ तत्त्व है। किन्तु मेरे विचार से हमें समस्त विश्व को दृष्टि में रखकर यह देखना चाहिए कि किस प्रकार मानव-जीवन की विभिन्न कार्य-

वाहियाँ और शक्तियाँ इन्सान को इस तरह का इन्सान बनाती हैं; जिस तरह का वह आज है। इस तरह हम यह भी देख सकेंगे कि हमें और अधिक बुद्धिमान् एवं शक्तिशाली बनने के लिए क्या करना चाहिए, और हम प्रकृति की अन्य शक्तियों को जिन पर हम अभी तक विजय नहीं पा सके हैं कैसे अपने अधीन कर सकते हैं।

पाँचवाँ अध्याय

जाला, ताना और बाना

किसी विद्वान् ने एक बार कहा था कि 'मनुष्य का उत्कर्ष नीचता से उच्चता की ओर उतना नहीं हुआ जितना उलझनों से स्पष्टता की ओर'।

इसलिए जब हम देखते हैं कि इन्सान जो भी काम करना चाहता है अपने-आपको खुश करने के लिए ही करता है तो हमें आश्चर्य नहीं होता। स्वयं अपने बारे में इन्सान को बड़ी रुचि होती है। या यूँ कह लीजिए कि वह अपने-आप से प्यार करता है। अतः हम

देखते हैं कि सभी आदिम लोगों ने चीजें बनाने में बड़ी रुचि दिखाई, चाहे वह खाने के लिए भोजन हों या अपने-आपको गरम करने के लिए आग या पहनने के लिए कपड़े। और यह इतनी विलक्षण बात है कि इन्सान हमेशा ही इन चीजों को सुन्दर-से-सुन्दर बनाने के लिए कितनी मेहनत करता है। गन्दी चीजें तो वह तभी बनाता है जब वह थका हुआ हो या उसके दिमाग़ पर अन्धेरा छाया हो।

सम्भवतः हमारे आरम्भिक पूर्वजों को वर्षा और शीत ऋतु बड़ी दुःसह्य और कष्टदायक मालूम हुई। वे सिर्फ दो ही काम कर सकते थे—या तो ज़मीन के अन्दर किसी खोह में जाकर शरण ले सकते थे या पहाड़ों पर किसी कन्दरा में। या वे अपना शरीर पत्तों या जानवरों की खाल से ढक सकते थे। बहुत समय तक उनके शरीर पर काफी बाल रहे जो उन्हें गरम रखते थे, लेकिन जलवायु-जनित कठिनाइयों से ये बाल कम होते गए और इन्सान को आत्म-रक्षा के लिए किसी तरह के घर की जरूरत हुई। वह जहाँ भी जाता था गुफाओं को अपने साथ नहीं ले जा सकता था, इसलिए उसे दूसरी तरह के घर में रहना पड़ा। इसी तरह कपड़ों का जन्म हुआ, चाहे वे पेड़ों के पत्ते हों, जानवरों की खालें हों या बुने हुए कपड़े। हमने कभी कपड़ों की कल्पना घरों के रूप में नहीं की। है न? लेकिन वास्तव में वे यही तो हैं। जो लोग कहते हैं कि कपड़े सिर्फ नग्न शरीर को ढकने के लिए हैं, बेवकूफी की बातें करते हैं, क्योंकि गरम जलवायु में नग्न शरीर को ढकना लाभप्रद नहीं। और यदि इन्सान ठण्डी जलवायु में अपने शरीर को न ढकता तो वह अवश्य ही मर जाता।

पुराने जमाने में सबसे पहले लोगों ने अवश्यमेव पेड़ों की वही लचीली छाल पहननी शुरू की जिससे वे अपनी झोपड़ियाँ बनाते थे।

यह भी सम्भव है कि जो लम्बी घास वे पहनने के काम में लाते थे, उसके अतिरिक्त उन्होंने पेड़ों के तनों की छाल को हाथ से मल-मलकर रस्सियाँ-सी बनानी शुरू कीं। यह अपने किस्म का पहला धागा रहा होगा। शायद वे इसका इस्तेमाल मछलियाँ मारने के लिए करते रहे हों। उन्होंने घास बुनकर रस्सियाँ भी बनाईं।

बाद में, औरतें घास बुनकर टोकरियाँ बनाने लगीं, जैसा कि हमारे देश में अब भी लाखों लोग करते हैं।

फिर उन आदिकालीन लोगों ने घास और पेड़ों की छाल बुन-बुनकर मोटा कपड़ा बुनना शुरू किया। मैडागास्कर के आदिवासी

अब भी घास के कपड़े बनाते हैं। मालूम होता है कि इन्सान ने इस बात का पता लगाया कि कुछ खास पेड़ों के डंठल से तैयार

होने वाले रेशों से ज्यादा मजबूत सूत तैयार होता है। इनमें से एक पौधा सन कहलाता है। अतः जब वह फसल बोने लगा तो उसने अनाज के साथ-ही-साथ सन भी बोना शुरू किया।

हाथ से मलकर सूत बनाने के बदले कातकर सूत बनाया जाने लगा। इसके लिए पहले सन तैयार करनी पड़ती थी। इसका ढंग कुछ इस तरह का था—पूरी तरह बढ़ जाने पर सन का पौधा जड़ से उखाड़ लिया जाता था, उसके बण्डल बनाये जाते थे और तब तक के लिए पानी में रख दिये जाते थे जब तक वे पिलपिले और मुलायम न हो जायँ। रेशे पौधों के रसदार तनों से अलग हो जाते थे। तब इनके बण्डलों को हाथ से पीट-पीटकर गुच्छी से अलग किया जाता था। फिर उन्हें छाँटकर सीधा कर लिया जाता था। इस तरह ये सूत बनाने के लिए तैयार हो जाते थे। सन तैयार करने के लिए अब भी यही तरीका बरता जा रहा है। रेशे निकालने के लिए हम भले ही मशीनों का इस्तेमाल कर लें, लेकिन इन पौधों को पानी में उसी तरह सड़ाया जाता है।

पुराने जमाने में कताई आसान-सी चीज थी। सन के रेशे लम्बी-सी लाठी के सिरे पर लपेट लिए जाते थे। इसे पैवनी कहते थे। कातने वाला इसे अपनी बाईं बाँह के नीचे इस तरह रखता था कि उसका सिरा आगे को निकला रहे। कुछ रेशे निकालकर उन्हें सूत के रूप में बँटकर लकड़ी की एक टेकुई पर लपेट दिया जाता था जो दाहिने हाथ में पकड़ी रहती थी। इसके घूमने से पैवनी से और रेशे निकलते थे और लम्बे सूत के रूप में कतते जाते थे।

यह सूत पैवनी पर चढ़ जाता था और उसी पर था उसके खत्म हो जाने पर दूसरी पैवनी पर सारा सूत चढ़ा लिया जाता था।

सूत तैयार हो जाने के बाद करघा आया। सबसे पुराना

करघा लकड़ी के दो तख्तों का बना होता था। इनके बीच में एक पाया लगाकर इन्हें जोड़ दिया जाता था। कुछ धागे इस पाये पर बाँध दिये जाते थे, जिन्हें ताना कहते हैं, और दूसरे सिरे पर बँधे वजन की वजह से ये अपनी जगह पर बने रहते थे।

पहले जुलाहा ऊन की गाँठ अपने हाथ में पकड़ता था, चरखे में बँधे एक या दो धागे एक बार उठाकर अपने हाथ से वह बुनने वाले धागों को जिन्हें बाना कहते हैं, एक तरफ से दूसरी तरफ ले जाता था। बाद में इन धागों को एक तरफ से दूसरी तरफ ले जाने के लिए हड्डी या लकड़ी के समतल टुकड़े का प्रयोग होने लगा। इस तरह के बहुत से पुराने जमाने के करघे मिले हैं जिनमें से कुछ में सूत भी बँधा था। लेकिन हमारे देश में, और उसी तरह दुनिया के बहुत से दूसरे देशों में भी किसान एवं आदिवासी आज भी कातने और बुनने के यही तरीके बरतते हैं।

यह भी सम्भव है कि बच्चों और स्त्रियों ने पहले-पहल बुने हुए कपड़े पहने जब कि आदमी जानवरों की खाल के कपड़े ही पहनता था।

लैटिन भाषा में सन को 'लाइनम' कहते हैं। 'लाइनम' से ही अंग्रेजी का 'लिनन' शब्द बना है, जो सन से बने कपड़े को कहते थे।

[२]

पटसन के कपड़े बनाने के लिए रंगीन धागों का इस्तेमाल काफी पहले ही होने लगा था। सबसे पहले जिन तीन रंगों का
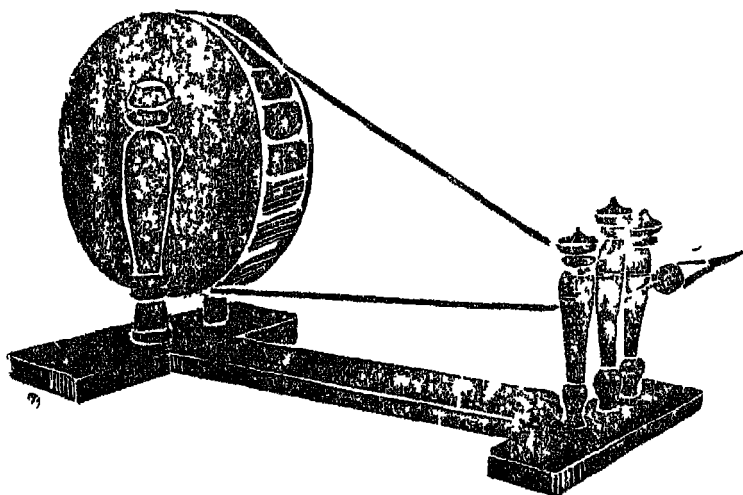
इस्तेमाल हुआ शायद नीले, लाल और पीले थे।

ये रंग पौधों से तैयार किये जाते थे। उदाहरणार्थ, यूरोप में नीला रंग नील से तैयार किया जाता था, पूर्व के देशों में नील के पौधे से। लाल रंग 'लेडीज-बेडस्ट्रा'-जैसे पौधों और भूमध्य-सागर के क्षेत्र में काँटेदार बलूत के पेड़ पर रहने वाले एक कीड़े से तैयार किया जाता था। टायर के निकट मिलने वाली एक 'शेल' मछली से चमकीला बैंगनी रंग तैयार किया गया। पीला रंग पेड़ों की छालों और क्रोकस के फूलों से तैयार किया गया। इन रंगों को मिलाने से दूसरे रंग तैयार हुए।

रंगीन धागों के आविष्कार के बाद कपड़े पर डिजाइन बनाने सम्भव हो गए। शुरू-शुरू में ये डिजाइन अवश्य ही सीधे-सादे धब्बों और धारियों के रूप में ही थे। मिस्र, बेबीलोन और भारत की सभ्यताओं के जमाने में जुलाहे बहुत बढ़िया पटसन का कपड़ा बनाने लग गए थे जिन पर सुनहले और दूसरे रंगों का

कढ़ाई का काम होता था। बुनाई और रफूगीरी की एक मिश्रित शैली भी निकली। सभी चीनी सिल्क बुनने वाले दुनिया में बहुत प्रसिद्ध थे और वे अपना माल भारत लाते थे।

दो ईरानी साधु चीन से रेशम के कीड़े के अण्डे एक खोखले बाँस में छिपाकर कुस्तुन्तुनिया ले गए। इन अण्डों से कीड़े निकले और उन्होंने रेशम के रेशे दिये। इस प्रकार यूरोप कच्चे रेशम से परिचित हो गया।

यूरोप के राजाओं ने रेशमी कपड़ा बनाने वाले जुलाहों का बड़ा सम्मान किया और उन्हें अपने दरबारों में रखा। जुलाहे अपने कपड़ों में सभी तरह की तस्वीरें बनाने लगे जिनमें राजा को शिकार करते, घुड़सवारी करते या सिंहासन पर बैठे दिखाया जाता था। इस तरह यूरोप में कपड़े पर तस्वीरें बनाने की कला का प्रसार हुआ। बारहवीं सदी में फ्लेण्डर्स के जुलाहे कपड़ों पर काढ़ी हुई इन तस्वीरों के लिए, जिन्हें 'टेपस्टरी' कहते हैं, बड़े मशहूर हो गए।
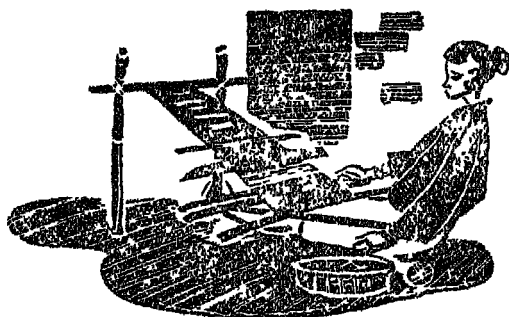
हमारे अपने देश में, शुरू-शुरू के चित्रों में महीन रेशम की साड़ियों के चित्र मिलते हैं। बहुत पहले ही यहाँ सब तरह के कपड़े बनने शुरू हो गए थे जिनमें खूबसूरत डिजाइन की साड़ियाँ भी थीं। हमारी मलमल की शोहरत दूर-दूर तक फैली हुई थी और प्राचीन भारत के प्रत्येक ग्रामीण प्रजातन्त्र में जुलाहे समाज का महत्त्वपूर्ण अंग थे।

अधिकांश स्थानों पर चरखे ने बहुत पहले ही पैवनी और तकली का स्थान ले लिया।

तब कपास की, कपास के पोधे के फुफीदार फल की खेती मिस्र, भारत और चीन में होने लगी। कई सदियों पहले ही इसका इस्तेमाल सन के साथ-ही-साथ किया जा चुका था। लेकिन सत्रहवीं सदी तक सूती कपड़ा मुख्यतः रुई और सन, या पाश्चात्य देशों में मुख्यतः सन और ऊन के मेल से ही बनाया जाता था।
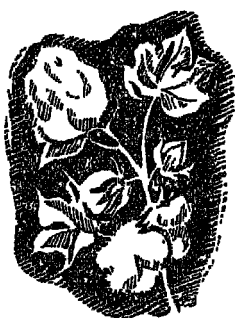
[३]

प्रारम्भ में मशीन पर आधारित इंग्लैण्ड में मैंचेस्टर और लंकाशायर में जो सूती वस्त्र-उद्योग शुरू हुआ उसके लिए रुई भारत और अन्य पूर्वी देशों से ही जाती थी। इन मिलों में जो कपड़ा तैयार किया जाता था वह भी हमारे करघों से तैयार होने वाले कपड़े की ही नकल था। पहले-पहल भारत से जाने वाले सूती एवं दरेस के वस्त्रों के कारण बरतानिया के ऊन-उद्योग पर बुरा असर पड़ा। अतः अंग्रेज़ों ने हमारे रुई के निर्यात पर भारी कर लगा दिया, ताकि उनके ऊनी वस्त्रोद्योग को भी मौका मिल सके। बाद में अंग्रेज भारत से ही कच्ची रुई का आयात करने लगे और मिलों से सूती कपड़े बनाकर हमें भेजने लगे। इस तरह हमारी दस्तकारी बरबाद हो गई और लाखों जुलाहे भूखों मर गए।

कपास के सुन्दर फूल ने मनुष्य जाति को बड़ा सुख दिया है, लेकिन उसकी रुई से कपड़ा बनाने वालों को दुःख और कष्ट ही मिला।

यदि आप मुट्ठी-भर फुंजीदार कपास हाथ में लें तो आपको

मालूम होगा कि उसमें कड़े बीज हैं। रुई बाहर भेजने के पहले ये सारे बीज निकाल लिए जाते हैं। कभी यह काम हाथ ही से होता था। लेकिन यह बड़ी मेहनत का काम था। कपास से बिनौले निकालकर रुई अलग करना इतना कष्टदायक काम है कि यह ग़रीब से ग़रीब लोगों के लिए छोड़ दिया जाता है। करोड़ों हब्शी इसी की रोज़ी खाते हैं।

तब किसी अक़लमन्द ने इस कार्य के लिए एक मशीन निकाली। इसे 'जिन' कहते हैं। इसमें उंगलियों की तरह के लोहे के काँटे होते हैं और यह बड़ी जल्दी रुई से बिनौले छाँटकर अलग कर देती है।
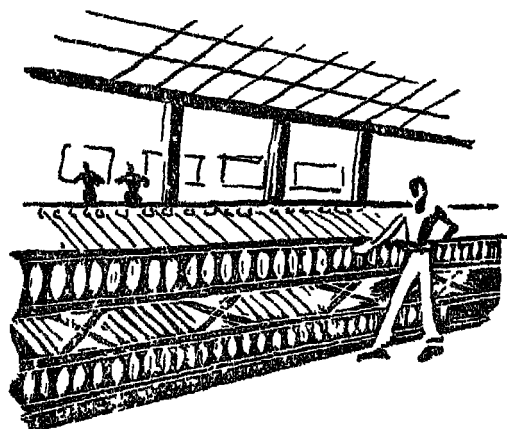
ये बिनौले बरबाद नहीं किये जाते। इनसे तेल निकाला जाता है। तेल निकालने के बाद जो खली बच जाती है उसे मवेशियों को खिलाते हैं।

रुई को बड़ी-बड़ी गाँठों में बाँधकर कारख़ानों को भेजा जाता है। यहाँ इस रुई की सफ़ाई होती है और इसका सूत निकालकर
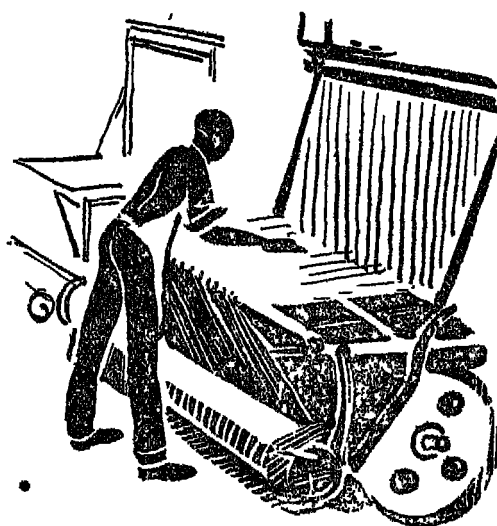
उसके गोले बनाए जाते हैं। इसे कताई कहते हैं। सूत को बुनाई के कमरे में ले जाते हैं जहाँ और बड़ी-बड़ी विशालकाय मशीनें लगी रहती हैं। जिस सिद्धान्त पर ये मशीनें काम करती हैं वह यह है—सूत को साथ-साथ अगल-बगल लगा दिया जाता है और सूत की अंटी आगे पीछे अन्दर-बाहर एक मिनट में दो सौ बार आती-जाती रहती है। अगर इस कपड़े में कोई डिज़ाइन बनाना हो तो उसके लिए अलग से सूत लगे रहते हैं। लेकिन कभी-कभी कपड़े को दूसरी मशीन में लगा दिया जाता है जो इस पर चित्र और डिज़ाइन छाप देती है जो लगभग उसी तरह छपता है जिस तरह अख़बार छपते हैं।

[४]

सीधी-सी दीखने वाली यह पद्धति कभी इंग्लैण्ड और यूरोप की कपड़े की मिलों में काम करने वालों की जान ही निकाल डालती

थी। चार से आठ साल तक की उम्र के बच्चे काते हुए सूत के गोले बनाने के लिए एक आना रोज की मजदूरी पर रखे जाते थे। आठ से बारह साल तक के बच्चों को दो-तीन आने रोज मिलते थे। तेरह वर्ष की उम्र में उन्हें कपड़ा बुनने के लिए छः आने रोज दिये जाते थे। अब हमारी कपड़ा-मिलों में स्थिति उससे अच्छी है, क्योंकि बच्चों को वहाँ नियुक्त नहीं किया जाता। फिर भी कारखानों में काम करने वाले मजदूरों को वेतन बहुत कम मिलता है जबकि चीजों के दाम बढ़ते जा रहे हैं।

इसके अतिरिक्त हमारी कई मिलों में आज भी वही स्थिति जारी है जो सौ साल पहले इंग्लैण्ड का मिलों में थी। मिलें अंधेरी और अस्वास्थ्यकर हैं। उनमें खिड़कियाँ तक नहीं खोली जातीं और रुई की फुज्जी बड़ी कष्टदायक होती है। आदमी-औरतें थोड़े से स्थान में ठुंसे रहते हैं और उनसे घण्टों काम लिया जाता है। नवीनतम मशीनों का उपयोग हमारी मिलों में नहीं किया जाता। दूसरे देशों से मशीनें मुश्किल से मिलती हैं, क्योंकि उन देशों में इस्पात का उपयोग शस्त्रास्त्र बनाने के लिए ही पूरा नहीं पड़ता। विश्व में शान्ति की किसी योजना की कमी के कारण मिल-मजदूरों की दुर्दशा होती है।

[५]

अतः हम देखते हैं कि हमें कपड़ा बनाने वालों की दशा सुधारने के लिए कितना कुछ करना है।

लेकिन, शायद हमें कपड़े पहनने में भी ज्यादा अक्लमन्द बनना चाहिए। सबसे पहले हमें ऐसे ही कपड़े पहनने चाहिएँ जो उस जलवायु के उपयुक्त हों जिसमें हम रहते हैं। हमारे पूर्वज हमसे कहीं कम कपड़े पहनते थे, क्योंकि वे शरीर के लिए धूप और रोशनी को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझते थे। दुर्भाग्यवश पिछले दो सौ वर्षों से ब्रिटिश सरकार ने अपने कर्मचारियों को कोट, पतलून

और टाई पहनने की आज्ञा दी। पाश्चात्य विचार कुछ दूसरे ढंग के हैं क्योंकि ईसाई नग्न शरीर को बुरी नजर से देखते थे और उसे ढककर रखना चाहते थे। जब उन्होंने भारतीयों को सिर्फ कुरता और धोती पहनते देखा तो उन्होंने सोचा कि हम असभ्य हैं। वास्तव में हमारे देश की गरम जलवायु में सूट-बूट पहनना बेवक़ूफी की-सी बात मालूम होती है।

हमारे सम्पूर्ण इतिहास में लोग पटसन, मलमल या रेशम के ढीले-ढाले लटकते हुए कपड़े पहनते रहे हैं। आदमियों की पोशाक कुछ ऐसी 'स्कर्ट' (लहंगे) की तरह की रही है जिसमें हवा भरी हो। औरतें पाजामे या सलवार पहनती थीं। स्कॉट-लैण्ड में आदमी 'स्कर्ट' पहनते हैं जिसे 'किल्ट' कहते हैं। जैसा कि विद्वान् अंग्रेज कलाकार गिल ने कहा था, 'स्कर्ट' न तो विशेषतः औरतों का ही पहनावा है और न पाजामा आदमियों का। वास्तव में यदि हम केवल इन बातों के बारे में सोचने लगें तो नग्न या अर्धनग्न आदमी हमें कपड़े पहने हुए की ही तरह लगेगा।

छठा अध्याय

नृत्य, संगीत और नाटक

[१]

अंग्रेजी के एक महान् लेखक श्री एच० जी० वेल्स ने एक बार एक पुस्तक लिखी थी—'टाइम मशीन'। और इस पुस्तक द्वारा हम इस विचार के अभ्यस्त हो गए हैं कि हम समय की यात्रा कराने वाली इस मशीन में बैठकर उसी तरह सैर कर सकते हैं जैसे किसी मोटर कार में। हम इसे चालू करते हैं और यह हमें हजारों वर्ष पहले के प्रागैतिहासिक काल का दिग्दर्शन कराने लगती है। पहले के अध्यायों में हम यही करते आए हैं।

अब यदि हम वही काम फिर करें, तो शायद हम किसी जंगल के बीच में जा पहुँचेंगे। और हमें अपने पुराने बन्दरों से मिलते-जुलते बालों से भरे शरीर वाले पूर्वज आग के चारों ओर कुछ अजीब-से भारी, बेढंगे ढंग से उछलते-कूदते नजर आएँगे। उस उछल-कूद में शायद कुछ सामंजस्य भी दिखाई पड़े। उछलते-कूदते समय पैरों की आवाज़ के साथ-ही-साथ वे चीखते-चिल्लाते और तरह-तरह की आवाजें निकालते होंगे। अब तक उन्होंने शब्दों में बातचीत करना या गाना नहीं सीखा है।

आप पूछेंगे—आखिर वे जंगल में आग के चारों ओर उछल-कूदकर क्या कर रहे हैं? इसका उत्तर है—वे जादू कर रहे हैं। आस-पास की हरेक चीज पर वे जादू डाल रहे हैं। वे समझते हैं कि यदि वे उस तरह उछलें-कूदें और जानवरों की तरह आवाज़ करें तो वायु और जल उनसे भयभीत हो जायँगे। हो सकता है कि वे भी कुछ उसी प्रकार की आंतरिक भावना से प्रेरित हों जिससे

प्रेरित होकर हम अंधेरे में अपने भय पर विजय पाने के लिए सीटी बजाने लगते हैं।

जैसा कि आपको अब तक मालूम हो चुका, हमारे ये आरम्भिक

पूर्वज मुख्यतः शिकारी थे। इन्हें भोजन के लिए या तो जंगली जानवरों को मारना पड़ता था नहीं तो वे खुद उनकी जान ले लेते। एक जमाना वह था जब वे अपने हाथों और दाँतों से ही जानवरों का शिकार करते थे। उसके बाद, आपको याद होगा, उन्होंने कुल्हाड़ियाँ तथा दूसरे हथियार बना लिये। लेकिन उसी समय मालूम होता है उन्होंने एक नये हथियार का आविष्कार किया—एक प्रकार के गुप्त हथियार का। वे जिन जानवरों का शिकार करते थे उन्हीं की खाल और पर पहनने लगे। किसी तरह इन्हें पहनकर वे अपने-आपको अधिक शक्तिशाली महसूस करते थे, क्योंकि वे समझते थे कि यदि हम किसी चीज़ की नक़ल करें तो हमको उस पर विजय पाने की शक्ति मिल जाती है।

अतः शिकार के लिए निकलने से पहले वे शिकार की नकल का अभ्यास कर लेते थे। उनमें से कुछ लोग शिकारी का पार्ट करते थे और कुछ लोग शिकार होने वालों का। इस नक़ल में हमेशा शिकारी ही जीतते थे।

असली जानवरों पर इस तरह के जादू-टोने का कतई असर नहीं पड़ सकता था, लेकिन हमारे भोंडे पूर्वज अवश्य ही उससे प्रभावित हुए। उन्हें विश्वास होने लगा कि इस तरह वे असली शिकार के समय जानवरों को मारने में अवश्य ही सफल होंगे। विश्वास करने का अर्थ आधी लड़ाई जीत लेना है।

कुछ समय के बाद स्वाँग का यह अभ्यास अभिनय में परिवर्तित हो गया, और शिकार के भाव भंगिमा, तथा शिकारी की अन्य क्रियाओं तथा आवाजों का विकास निश्चित ढाँचा बन गया। ये ढाँचे शिकार का बिलकुल सही-सही अभिनय तो न थे, लेकिन उससे इतने मिलते-जुलते अवश्य थे कि शिकार की ही तरह मालूम हों।

जादू-टोना करने की यह विचारधारा बाद के युगों में जीवित

रही। और मालूम होता है कि जब भी लोग कुछ करने जा रहे हों तो उससे पहले कुछ इस तरह की चीज़ कर लेना अभ्यास-सा बन गया। उदाहरणार्थ, जब खेतों में बीज बोते थे तो इस तरह की तालमय क्रियाएँ एवं मन्त्रोच्चार करके फसल उगाने के लिए वर्षा और धूप की प्रार्थना करते थे। उनका विश्वास था कि प्रत्येक चीज़ उसी तरह जीवित है जैसे कि वे जीते और साँस लेते हैं; और प्रत्येक वस्तु में उन्हें एक प्रकार की आत्मा का बोध होता था। हमारे पुराने शास्त्र वेदों में वर्षा देने के लिए इन्द्रदेव, धूप देने के लिए सूर्य भगवान् तथा आँधी लाने वाले देवता रुद्र की चर्चा है। वास्तव में, प्रत्येक नदी और पेड़, पहाड़ व जीव-जन्तु की अलग-अलग आत्मा है। उसी तरह हम परियों, देवों, राक्षसों और भूतों की चर्चा करते हैं।

यह जादू-टोना और मन्त्र-तन्त्र, नृत्य, गीत, नाटक, काव्य, चित्रकारी और शिल्प सभी कलाओं का श्रीगणेश थे।

और नृत्यकला अन्य सभी कलाओं की जननी है।

[२]

आदिकालीन जादू-टोने और मन्त्रोच्चार से लेकर आधुनिक 'बैले' तक, जैसा कि वह पाश्चात्य देशों में आजकल नाचा जाता है, नृत्य-कला के विकास का निश्चित विवरण देना सम्भव नहीं है। लेकिन हमें आदिवासियों के नृत्यों के बारे में जिनकी कई जातियाँ हमारे बीच आज भी उसी तरह रहती हैं जैसे कि हमारे पूर्वज रहते थे, हमें काफी मालूम है। अतएव हम कुछ हद तक इस कला के विकास का पर्यवेक्षण कर सकते हैं।

एक लम्बे अरसे तक मालूम होता है नृत्य-कला केवल शिकार का स्वाँग एवं अच्छी फ़सल की हार्दिक उत्कंठा का प्रदर्शन-मात्र बनी रही। और उससे भी पहले के जमाने में ही, उन आदि-पुरुषों

ने नियत स्थान के भीतर ही नृत्य करते हुए अपने-आपको भूमिति की रेखाओं में सजाकर सुन्दर ढाँचे बना लिये। उसके साथ-ही-साथ चीख और चिल्लाहट शीघ्र ही गीत की लड़ियों में परिणत हो गई—और संगीत का आरम्भ हुआ। हम अपने ही भरत नाट्यम और कथाकली-जैसे पुराने नृत्यों में देख सकते हैं कि गीत एवं नृत्य कितनी खूबी से साथ-ही-साथ गुंथे हुए चलते हैं और नृत्य की भाव-भंगिमाएँ कितनी गूढ़ और कलापूर्ण होती हैं। हमारे नृत्यकारों के हाथ कमल के फूल की ही तरह बड़ी नज़ाकत से खुलते हैं और उनकी आँखों में प्रेम और ईर्ष्या और घृणा के सभी भाव प्रतिबिम्बित हो जाते हैं तब सम्भव है कि नृत्य और संगीत का विकास साथ-ही-साथ हुआ होगा।

हो सकता है कि बहुत समय तक अन्न उपजाने वालों, बोने

वालों, फसल काटने वालों, टोकरियाँ ढोने वालों और लकड़ी काटनेवालों की शारीरिक आवश्यकताओं एवं भावनाओं का अभिनय ही उनके स्वांगरूपी नृत्य का विषय रहा। गोण्डों, संथालों और बंजारों के नृत्य भावपूर्ण मुद्राओं में उनकी जीवनचर्या ही प्रतिबिम्बित करते हैं।

लेकिन प्राचीन कविता की ही भाँति, ये स्वाँग केवल जिन्दगी की नकल ही न थे, इनमें कल्पना का पुट देकर जीवन का पुन-

निर्माण किया जाता था। कल्पना के इस पुट में हर्ष, विषाद, विजय, उल्लास, आशा और भय सभी भाव आ जाते थे। ये भाव एवं भावनाएँ उस समय और भी महत्त्वपूर्ण मालूम होते हैं जब विशेषतः कई नाचने वाले एक साथ मिलकर ढोलक की ढम-ढम पर एक ही प्रकार का भाव प्रकट करते हुए एक ही प्रकार की ध्वनि के साथ नृत्य करते हैं। इस प्रकार नृत्य में कल्पना का जो पुट आया वह कभी-कभी जीवन से विलग कोई चीज़ नहीं बल्कि उसी का अंग मालूम होता है, जो एक साथ शिकार करते हुए या खेत जोतते हुए लोगों की भाव-भंगिमाओं में प्रदर्शित होता है।

नृत्य का मुख्य अंश हाव-भाव और सुन्दर मुद्राएँ ही हैं; लेकिन नृत्य की विभिन्न शैलियों का विकास प्रत्येक देश में अलग-अलग हुआ। प्रत्येक देश की जलवायु, फ़सल उगाने के लिए वहाँ काम में आने वाले औज़ार, लोगों द्वारा पहने जाने वाले कपड़े और गीतों की भाषा, सभी के सामंजस्य से प्रत्येक देश में प्रदर्शन के भिन्न-भिन्न एवं विशिष्ट ढंगों का विकास हुआ। उदाहरणार्थ, कुछ भाव-मुद्राएँ तो साधारण दैनिक कार्यों की स्पष्ट नकल हैं, जैसे कि हमारे पहाड़ी नृत्य में हँसिये से फसल काटने की मुद्रा। दूसरे नृत्यों में ये प्रतीक अधिक अप्रत्यक्ष हैं जैसे कि संथाल नृत्य में। इसमें पुरुष एवं स्त्रियाँ एक-दूसरे की ओर आती हैं जैसे कि एक-

दूसरे को बाहों में भर लेना चाहते हों। लेकिन सभी लोक-नृत्यों में हम अब भी उस जादू-टोने का रूप देख सकते हैं जैसे कि

नाचने वाले जोर-जोर से धरती पर पैर मारकर उससे अपनी इच्छा पूरी करा लेते हैं।

[३]

जैसे पुरानी जातियाँ बड़े गाँवों और नगरों में बसने लगीं उसके साथ ही नृत्य की शैलियों में भी परिवर्तन हुआ। पुराने ढंग के नृत्य अब भी प्रचलित थे, लेकिन उन्हें नया अर्थ दिया गया और वे पहले से दुरूह हो गए। प्राचीन भारत में शिव भगवान् की प्रतिष्ठापना नृत्य-सम्राट् नटराज के रूप में करने का गूढ़ अर्थ था। हमारे ऋषियों का विचार था कि मनुष्य इस दुनिया में बार-बार जन्म लेता है और यह जीवन-क्रम महादेव के ताण्डव द्वारा ही संचालित होता है, मानो सारी दुनिया नृत्य करते हुए भगवान् का ही रूप हो।

यदि आप नृत्य-मुद्रा में नटराज शिव के चित्र पर नज़र डालें तो आपकी समझ में उस स्तुति का अर्थ आ जायगा जिसमें उनके विभिन्न चिह्नों का वर्णन है :

"हे भगवान शिव, तुम्हारे एक हाथ में पवित्र डमरू है। इस हाथ द्वारा ही तुमने सम्पूर्ण सृष्टि का सृजन किया है। तुम्हारा ऊपर उठा हुआ हाथ जड़ और चेतन दोनों की रक्षा करता है। तुम्हारे एक हाथ में अग्नि है जिससे तुम संसार के रूप को बदलते रहते हो, तुम्हारा पवित्र पैर ज़मीन पर जमा है और जीवन-मृत्यु के संघर्ष में रत मनुष्य की आत्मा को सहारा देता है। तुम्हारा उठा हुआ दूसरा पैर उन लोगों को मोक्ष और स्थायी शान्ति प्रदान करता है जो तुम्हारे पास पहुँच पाते हैं। तुम्हारी नृत्य-मुद्रा तुम्हारे इन महान् पाँच कार्यों की ओर संकेत करती है।"

[४]

गाँवों के आविर्भाव के साथ ही मन्दिरों-देवालयों में भगवान् को रिझाने के लिए नृत्य-अभिनय प्रारम्भ हुआ। इनके साथ ही

मन्त्रोच्चारण तथा कथाओं का पाठ करने की प्रथा भी शुरू हुई। और इसी से बाद में नाटक का जन्म हुआ। रामायण तथा महाभारत की महान् कथाएँ पुजारियों द्वारा मन्दिरों में सुनाई जाती थीं। नर्तक और अभिनेता इन कथाओं का सक्रिय रूप अपने नृत्य तथा अभिनय द्वारा प्रस्तुत करते थे। बंगाल का कीर्तन बहुत-कुछ अंशों में इसी पद्धति का प्रतीक है।

परन्तु ईसा मसीह के दो-तीन सौ वर्ष बाद तक नृत्य तथा नाट्य-कला का काफी विकास हुआ और भारत में गुप्तकाल में बहुत-कुछ अंशों में उन्हें पूर्णता भी प्राप्त हुई। ईसा मसीह के बाद पाँचवीं शताब्दी के पूर्व भरत नाट्य-शास्त्र लिखा गया जिसमें नृत्य और अभिनय की अवस्थाओं तथा उनके द्वारा विभिन्न प्रकार की भावनाओं के प्रदर्शन का व्यापक विश्लेषण किया गया है। इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि आज से एक हज़ार वर्ष पूर्व भी भारत में इन कलाओं का पर्याप्त विकास हो चुका था।

परन्तु विदेशी आक्रमणों से यह विकास अवरुद्ध हो गया। विशेष रूप से इसका असर उत्तर-भारत में पड़ा परन्तु दक्षिण में इन शास्त्रों का विकास होता रहा। उदाहरणार्थ, तंजौर में भरत-नाट्यम् जारी रहा। शास्त्रीय नृत्य कला कितनी सुन्दर हो सकती है उसका अनुभव उस नृत्य को देखकर किया जा सकता है। मलाबार का कथाकली नृत्य भी, जो आजकल प्रचलित है, उतना ही कलापूर्ण है और हर प्रकार की मुद्राओं तथा भावनाओं को प्रदर्शित करता है।

जब भारत से हिन्दू जावा और बाली गये तो वे वहाँ भी इस कला को ले गए। वहाँ जाकर भारतीय नृत्य-कला में उन द्वीपों के लोगों के रहन-सहन के अनुसार उन्होंने परिवर्तन भी किये।

[५]

चीन में भी नृत्य, नाटक तथा संगीत का इसी प्रकार विकास

हुआ। वहाँ प्राचीन काल से चले आते हुए 'द्वैधालय प्रणाली' के नृत्य में इतने परिवर्तन हुए कि उन शास्त्रों को जीवित रखने के लिए नर्तक अथवा अभिनेता को अपनी सन्तान को मृत्यु के पूर्व उन कलाओं में पारंगत कर देना पड़ता था। चीन में भी नाटक और नृत्य का निकट सम्बन्ध बना रहा। संगीत भी उसका एक आवश्यक अंग था। इसे आजकल 'ऑपेरा' कहते हैं।

पूर्वी क्षेत्रों के लोगों की धार्मिक भावनाओं में बहुत काल तक परिवर्तन नहीं हुआ, और यदि हुआ भी तो बहुत थोड़ा। फलस्वरूप, इन क्षेत्रों में नृत्य-कला की जो धारा शुरू हुई वह आज भी जारी है। यूरोपीय संस्कृति के प्रभाव के कारण पिछले दो सौ वर्षों में इस नृत्य-परम्परा में थोड़ा-बहुत अन्तर हुआ है।

[६]

पश्चिमी देशों में जादू-टोने व नृत्य-कला का विकास भिन्न परिस्थितियों में हुआ, जिसने उन्नति करके दुरूह नाटक का रूप धारण कर लिया।

वहाँ गाँवों का महत्त्व बहुत दिनों तक न रहा। शहरों का प्रादुर्भाव जल्दी हुआ, जहाँ नवीन पद्धति की समाज-रचना हुई। इसका

असर नृत्य, नाटकों आदि पर भी पड़ा और 'हीरो' (नायक) की कल्पना की गई। इस 'हीरो' के बारे में यह कहा गया कि वह संसार को नया ज्ञान, नई बातें, बताएगा। इस विचार का स्पष्ट अर्थ हुआ कि वह ईश्वर की शक्ति को न मानता था और वह 'हीरो' प्रोमेथियस था जो नई खोजें और नई पद्धतियाँ निकालता था। फलस्वरूप, उसे देवतागण कैद कर देते हैं और प्रोमेथियस उनसे छुटकारा पाने के लिए संघर्ष करता है।

यूनानियों की अपने देवताओं के बारे में अन्य अनेक कथाएँ भी हैं। ये देवता प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के, अज्ञात भाग्य के जो इन्सान की जिन्दगी बनाता या बिगाड़ता है, प्रतीक समझे जाते थे। यूनान के प्रायः सभी नाटकों में पात्रों के कार्य प्रकृति की शक्ति से प्रभावित रहते हैं तथा उनका परिणाम भाग्य पर निर्भर समझा जाता है।

सभी यूनानी नाटकों में इस अज्ञात भाग्य (प्रकृति की शक्ति) का इन्सान के कृत्यों पर सदा प्रभाव पड़ता रहता है। मालूम होता है नाटक के पात्र वही कर रहे हैं जो उनके भाग्य में लिखा है। जब परदा उठता है तो मंच का दृश्य देखकर हमारा दिल प्यार और दया से भर जाता है मानो स्त्री-पुरुषों को कष्ट भोगते हुए देखकर हमारा दिल पसीज गया हो। ऐसा लगता है कि यूनानियों ने सभी चीजों पर विजय पा ली थी, लेकिन कुछ अज्ञात, अदृश्य शक्तियों से वे सदा भयभीत रहे।

यूनानियों की ये महान् परम्पराएँ पश्चिमी यूरोप में भी फैलीं। बाद के युगों में तो केवल प्रमुख विचारों में ही परिवर्तन हुआ। यहाँ ईसा मसीह को दुखियों का सहायक तथा शैतान को बुरे कार्यों के लिए उत्तेजित करने वाला माना गया। यहाँ के गिरजा-घरों में होने वाले नाटकों में जिन्हें 'नैतिकता-नाटक' (Morality Plays) कहते हैं, इसी आधार पर अच्छे और बुरे कार्यों का

अन्तर्द्वन्द्व प्रकट किया जाता था।

बाद में विज्ञान और अन्वेषण का समय आया जिसे पुनरुत्थान काल भी कहते हैं। उस समय थियेटर में एक और 'भाग्य' के विषय का नाटकों में समावेश होने लगा। इस काल में नाटकों के विषय बदल गए और मनुष्य के अन्दर छिपी हुई उन बुराइयों को नाटकों में दिखलाया गया जो व्यक्ति-व्यक्ति की होड़ के समय सामने आती हैं। विश्व के महान् नाटककार शेक्सपियर ने अपने नाटकों के पात्रों में इन्हीं बुराइयों का चित्रण किया है।

मशीन-युग में 'भाग्य' एक बार फिर 'परिवर्तित' हो गया। साथ ही व्यापार-वाणिज्य क्षेत्र की बुराइयों को समाज के सम्मुख प्रस्तुत करना आवश्यक हो गया। फलस्वरूप, साहित्य पर उनका प्रभाव पड़ा। क्रय-विक्रय में किस प्रकार बेईमानी की जाती है, पूँजी का किस प्रकार दुरुपयोग होता है आदि पर नाटक, उपन्यास तथा कविताएँ लिखी गईं। इस प्रकार १६वीं से १७वीं सदी के दरम्यान अनेक महत्त्वपूर्ण सामाजिक नाटक लिखे गए।

नृत्य, संगीत तथा नाटकों पर १४वीं से १७वीं शताब्दी तक केवल राजाओं, उनके दरबारियों तथा पूँजीपतियों का आधिपत्य था। उन्हें प्रस्तुत करने वाले या तो अच्छे घरानों के लोग होते थे या पेशेवर नर्तक व अभिनेता। थियेटरों में नृत्य, संगीत तथा वार्ता का प्राय: बराबर स्थान रहा करता था। लेकिन गिरजाघरों में संगीत का विकास बराबर जारी रहा और आज यह संगीत यूरोपवासियों की विश्व-संस्कृति को बहुत बड़ी देन है।

१७वीं और १८वीं शताब्दियों में 'बैले' को काफी पूर्णता प्राप्त हुई। इसका सबसे अधिक श्रेय नोवेरे नामक व्यक्ति को है। उसका खयाल था कि यह कला केवल इसीलिए शैशवावस्था में रही क्योंकि इसका प्रभाव सीमित रहा है। आतिशबाज़ी के प्रभाव की भाँति दर्शकों का मनोरंजन करना मात्र इसका ध्येय था। श्रेष्ठतम नाटकों

की ही भांति 'बैले' भी प्रेरणा देने और दर्शकों के हृदय को प्रभावित करने का महत्त्वपूर्ण साधन है। मर्मस्पर्शिता की इसकी शक्ति में कभी किसी ने सन्देह नहीं किया।

तब से, अगले दो सौ वर्षों तक हम एक नई कला को उन्नति करते देखते हैं, जो अपनी मोहिनी शक्ति के लिए विश्व की श्रेष्ठतम कलाओं में गिनी जाती है। इटली, रूस और पश्चिमी यूरोप में कई प्रतिभावान्‌पुरुषों और स्त्रियों ने सुन्दर नृत्य प्रस्तुत किये। और यह मोहक कला दिनों-दिन पहले से भी अधिक तरक्की कर रही है।

[७]

सम्भवतः हमारे अपने देश में हमें पश्चिम के रंग-मंच पर नाटक प्रस्तुत करने की कला को अपनाकर अपनी परम्परा से चली आई भाव-भंगिमा को नया रूप देना होगा। इसके साथ ही अपने नये जीवन और उसकी नई अनुभूतियों को प्रकट करने के

लिए हमें शायद नई भाव-भंगिमाएँ निकालनी पड़ेंगी। और तब हमारे पास 'बैले' संगीत और थियेटर की एक नई कला होगी।

हमें नोवेरे के शब्द याद रखने चाहिएँ, जिसने कहा था : "भली भाँति प्रस्तुत किया गया 'बैले' विश्व के सभी राष्ट्रों के आंतरिक भावों, तौर-तरीकों, रस्म-रिवाज, संस्कारों और आदतों का सजीवचित्र होता है। इसमें छोटी-छोटी बातों को भी पूर्णत: स्पष्ट करके सामने ला रखने और आँखों के रास्ते आत्मा तक पहुँचने की शक्ति होनी चाहिए।

यह नाट्य-सम्बन्धी सभी कलाओं के बारे में सत्य है।
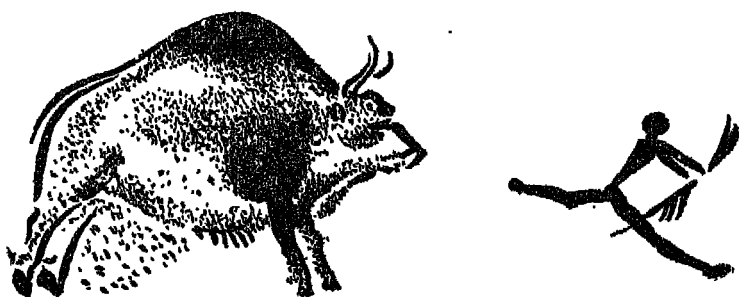
सातवाँ अध्याय

मकान, चित्र और मूर्तियाँ बनाने की कला

[१]

यदि हम फिर उस काल-यन्त्र (टाइम-मशीन) में बैठकर अतीत की यात्रा करने को निकलें, जैसा कि हमने पिछले अध्याय में किया था, तो हम शायद पहाड़ों पर स्थित उन कंदराओं में से किसी एक में जा पहुँचेंगे जिनमें आदिकालीन मनुष्य रहते थे। हजारों साल पहले के इन तैयार किये हुए घरों में हमें सभी तरह की चीजें मिलेंगी—पत्थर के औजार, सींग, हड्डियाँ और अतीत काल के उन गुफावासियों के खाने में से बच रहे भूने हुए जानवरों के पैर और बाकी टुकड़े। और इन गुफाओं में से कुछ की दीवारों पर हमें बैलों, घोड़ों, हिरनों और चिड़ियों के चित्र मिलेंगे।

ये चित्र वस्तुतः उस जादू-टोने का ही नमूना हैं। इन जानवरों को लक्ष्य करके जो तीर खींचे हुए हैं, मानो उनको बेध रहे हों, उनसे मालूम होता है कि हमारे आदिकालीन पूर्वज शिकार के मर जाने के पहले ही जानवरों को मारने की कोशिश करते थे—उसी तरह जैसे वे शिकार के समय उन्हें मारने का स्वांग करते थे।

इस प्रकार आदिकालीन चित्र और चित्रकारी आदिकालीन नृत्य, नाटक और संगीत की ही भाँति, भोजन इकट्ठा करने के हित शिकार के लिए आवश्यक साहस एकत्र करने की आन्तरिक भावना से ही प्रेरित होकर उत्पन्न हुए।

बाद में, यह भावना विकसित होकर स्वान्तःसुखाय काम करने और चीजें बनाने की प्रेरणा में परिवर्तित हो गई।

और उसके भी बाद, काम का बँटवारा शुरू हुआ। कबीले के शक्तिशाली पुरुष तो शिकार पर जाते थे और कमजोर व्यक्ति या अन्य जो जिस किसी विशेष कार्य में अधिक कुशल होते थे, चीजें बनाते थे।

जो भी हो, गुफाओं की दीवारों पर खरोंचे हुए जो चित्र हमें मिलते हैं, अत्यन्त ही तीखे और महत्त्वपूर्ण हैं। जादू-भरा चित्र जो धूप और वर्षा पर नियन्त्रण कर अच्छी फसल दे सके या शिकार को मदद दे, आश्चर्यजनक होना ही चाहिए था। यह चित्र ही तो गुफावासियों को सभी कार्य सफलतापूर्वक करने की

प्रेरणा देता था। इसकी सम्भावना भी है कि आदिकालीन इन्सान ने जो कुशलता प्राप्त कर ली थी उसके अतिरिक्त वह एक नई शक्ति का भी उपयोग करने लगा। यह थी कल्पना-शक्ति। इससे चीजों के प्रतिरूप केवल उनसे मिलते-जुलते ही न रहकर उससे अधिक हो गए। ये मूर्तियों के चित्र दर्शक के हृदय पर गूढ़ प्रभाव डालते हैं। दर्शकों को ये वास्तव में इतना प्रभावित कर देते हैं कि चित्र देखने के बाद ही उसे बाकी चीजें भी याद आने लगती हैं। इन चित्रों की रेखाएँ इतनी स्पष्ट हैं कि ऐसा लगता है मानो वे गा रही हों।

जो चित्र उत्तर प्रदेश में मिरजापुर जिले की प्रागैतिहासिक गुफाओं में मिले हैं, या स्पेन की अल्टामारा गुफाओं में, या अन्य स्थानों पर, उन्हें देखकर मालूम होता है कि आदिकालीन मनुष्य में दौड़ते, लात मारते या भाला खाते हुए जानवरों की गति पकड़ने की कितनी असाधारण क्षमता थी।

जिन गुफाओं में ये चित्र मिले हैं, उनमें से कुछ बहुत ही अन्धेरी हैं। अत: उनमें चमकीले, लाल, पीले या गहरे भूरे रंग का इस्तेमाल किया गया है। स्पष्टता में रंग पत्थर के चूरे से ही बनाए जाते थे। इसे समतल पत्थर पर रखकर उसमें लासा मिला दिया जाता था। ब्रुश गिलहरियों के मुलायम बालों से बने होते थे, जैसे कि वे आज भी बनाए जाते हैं।

[२]

हिम-युग के अन्त में, जब इन्सान गुफाएँ छोड़कर घास-पात, जानवरों की खाल या बाँस और गारे के घर बनाने लगा, इन चित्रों में भी परिवर्तन हुआ। पुराने जमाने में इन्सान आज से कहीं अधिक घर और चित्र बनाता और अपने आसपास आसानी से मिल जाने वाली चीजों, लकड़ी और पत्थर आदि पर कारीगरी करता था। उन मकानों में सजावट के लिए रंगों से बनाये गए

चित्रों तथा बड़ी इमारतों और देव-देवालयों के निर्माण में ही उस चीज का विकास हुआ जिसे हम कला कहते हैं।

आइए, अब हम देखें कि घर किस तरह बनाए जाते थे।

[३]

गुफाओं, पृथ्वी तथा पेड़ों की खोलों के अतिरिक्त हमारे देश में पेड़ों के तनों और डालियों का तम्बू-जैसा ढाँचा बनाकर मकान बनाए जाते थे। इस ढाँचे का बाहरी भाग झाड़ियों, टहनियों, पत्तों वगैरह से ढका रहता था। मिट्टी या गारे के 'प्लास्टर' से यह अपने स्थान पर टिका रहता था। हजारों गाँवों में इस तरह

की झोंपड़ियाँ आज भी बनाई जाती हैं। विश्व के विभिन्न भागों में, जलवायु के अनुसार ये झोंपड़ियाँ गोल, लम्बी या चौकोर होती थीं। सबसे बड़ी झोंपड़ी मुखिया की होती थी और इसकी दीवारों पर मिट्टी या गारे का प्लास्टर होता था। ये लाल या पीली रँगी रहती थीं और उन पर सफेद या लाल रंगों में तरह-तरह के चित्र बने रहते थे।

जब इन्सान भोजन-संग्रह करने की स्थिति से उन्नति कर खाद्यान्न-उत्पादन की स्थिति में पहुँचा तो वह गाँवों में रहने लगा। जैसा कि आप पहले के अध्यायों में पढ़ चुके हैं, सबसे पहले गाँव नील, दजला, फरात, सिन्ध और ह्वांगहो जैसी बड़ी नदियों की घाटियों में ही बसाये गए। इन क्षेत्रों में ज्यादा जंगल न थे, और लकड़ी कम ही मिलती थी। लेकिन मिट्टी और गारा यहाँ बहुतायत से मिलता था। अतः इन्सान ने रहने के लिए इन्हीं जगहों को चुना।

मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा में दीवारें और ईंट बनाने के लिए

मिट्टी और गारे का ही इस्तेमाल होता था। मेसोपोटामिया के एक पुराने नगर सूसा में स्पष्टतः गाँव के चारों ओर दीवार बनाने के लिए मिट्टी का ही इस्तेमाल किया जाता था।

मालूम होता है कि इस ज़माने के लोगों को भी शीघ्र ही पता चल गया कि बाढ़ आदि के खतरे के कारण नदियों के किनारे घर बनाना अच्छा नहीं रहता। अतः लोगों ने नदी के किनारे से खोदकर मिट्टी निकालने और उसके चौकोर ढोके बनाने का तरीका निकाला, जिन्हें नदी के किनारे पर ही सूर्य के ताप में पकने और मज़बूत बनने के लिए छोड़ दिया जाता था। ये हमारी पहली ईंटें थीं।

बाद में सिन्धु-घाटी के लोगों और बेबीलोन के निर्माताओं ने आग में ईंटें पकाना सीख लिया, जिससे मकान खराब मौसम में अधिक टिक सकें। वे लोग इन पक्की ईंटों को गारे या चूने और एक तरह के प्लास्टर से जोड़ते थे। मोहेन-जोदड़ो में बनाए हुए दुरूह भवन और बेबीलोन के महलों की मंज़िलें देखकर मालूम होता है कि अपनी जलवायु के अनुरूप अच्छे घर बनाने की कला में हमने उनसे बहुत ज्यादा तरक्की नहीं की है। इन अतीतकालीन लोगों के बनाये हुए कुछ घड़े और बरतन तथा मिट्टी व धातु की मूर्तियाँ तो अनुपम सौन्दर्यशाली हैं। बरतनों, या अपने मृतकों की क़ब्रों पर उन्होंने जो चित्र बनाए उनसे साबित होता है कि उन सभ्य युगों के निवासियों की कल्पना-शक्ति अत्यन्त उर्वरा थी।

[४]

हमारे देश में मन्दिर और देवालय प्रधानतः किसान के अपने रहने के घरों के ढंग पर ही बनाए जाते थे। आज भी बड़े मन्दिरों में आप देखेंगे कि मन्दिर के अन्दर एक वर्गाकार कमरा होता है जिसमें देवमूर्ति प्रतिष्ठापित रहती है। उसके

चारों ओर बरामदे होते हैं। मन्दिरों में पत्थर का प्रयोग होने से उनका रूप और निखरने लगा। इन्हें बनाने वाले पत्थर के इन भवनों को केवल पत्थर के ठोके के ही रूप में नहीं छोड़ना चाहते थे। उन्होंने खुरदरे पत्थरों के किनारे रगड़-रगड़कर चिकने बनाए और उन पर उन देवताओं की मूर्तियाँ खोदीं जिनको मन्दिर में प्रतिष्ठापित किया गया था।

हमारे ही देश की भाँति मिस्र, यूनान और चीन में भी बड़े-बड़े देवालयों का निर्माण हुआ।

यूनान में इनमें से सर्वाधिक प्रसिद्ध देवालयों में पार्थेनन का मन्दिर है। यूनान की एथेन नामक देवी के सम्मान में इसका निर्माण किया गया था। यूनान की राजधानी एथेन्स का नामकरण भी इसी देवी के नाम पर किया गया था। एथेन्स की पहाड़ियों पर स्थित इस मन्दिर के गौरवशाली खण्डहरों में कई मूर्तियाँ और उन मन्दिरों के प्रख्यात शिल्पकारों की कला के नमूने आज भी दिखाई देते हैं जो कभी इस वैभवशाली देवालय की शोभा बढ़ाते होंगे। इनमें से कई मूर्तियों ने बाद के शिल्पकारों को प्रेरणा दी।

उदाहरणार्थ, रोमनों ने यूनान को जीत लिया और उन दिनों ज्ञात लगभग सम्पूर्ण विश्व पर राज्य करते रहे। लेकिन यूनानियों ने उन पर भी आध्यात्मिक विजय पाई। उन्होंने यूनानी भवनों की नक़ल की और यूनानी ढंग पर शिल्पकारी करना सीखा। उनके भवन यूनानियों से अधिक सादे लेकिन ठोस होते थे। यूनानी

छत बनाने के लिए समतल पत्थर की सिलों और लकड़ी की शह-तीरों का इस्तेमाल करते थे। रोमनों ने मेहराब बनाने शुरू किए। ये मेहराब बड़े सादे मालूम होते हैं। लेकिन यदि आप देखें कि पत्थर किस तरह ऊपर-नीचे, और दायें-बायें टिके हुए हैं और गिरते नहीं, तो आपको अन्दाज होगा कि इतना भार सम्भालने के लिए कोई भी भवन बनाना बड़ा कठिन काम है। बौद्ध-काल में स्वयं हमारे पूर्वजों ने गुम्बज बनाकर दूसरों का पथप्रदर्शन किया, और जिस ढंग से गुम्बज का विकास हुआ, जैसा कि रोम में सेंट पीटर के गिरजे या लन्दन के सेंट पाल के गिरजा घर में, वह बड़ा मनोरंजक इतिहास है।

जिस तरह मोहेनजोदड़ो के लोग सार्वजनिक स्नानगृह, और हमाम बनाना जानते थे उसी तरह रोमन आग की भट्ठियों की गरम हवा से पूरी इमारत को गरम करना जानते थे। घर को गरम करने की इस प्रणाली में गरम हवा, मिट्टी या पत्थर की नलियों से निकलती थी। प्राचीन भारतवासियों की ही तरह रोमन भी तालाब बनाना और प्रत्येक घर में स्नान-गृह तक पानी पहुँचाना जानते थे।

शुरू-शुरू के मकान एक-मंजिले ही होते थे, जैसा कि गाँव में अधिकांशतः आज भी दिखाई देता है। बाद में जन-संख्या में वृद्धि होने के साथ-ही-साथ नगर निर्मित हुए और लोग एक मंजिल पर दूसरी मंजिल बनाने लगे। आज तो न्यूयार्क और मास्को में गगन चुम्बी इमारतें बनती हैं। इस तरह हजारों लोग एक ही घर में रह सकते हैं। उसी तरह बाँस की सीढ़ियों के बदले पहले लकड़ी की सीढ़ियों का प्रयोग होने लगा, फिर पत्थर की सीढ़ियों का और अब बिजली की लिफ्ट का, जो हमें इस तरह ऊपर ले जाती हैं मानों हम किसी जादू के कालीन पर बैठकर जा रहे हों। खिड़कियाँ, चिमनियाँ और आराम देने वाली अन्य चीजों में भी सदियों से निरन्तर विकास होता आया है। इन सभी चीजों के विकास में जलवायु पहली विचारणीय चीज रही है और आवश्यक सामग्री
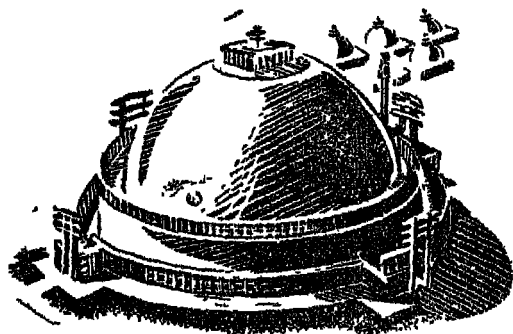
दूसरी। रेन-जैसे कई निर्माताओं की प्रतिभा के फलस्वरूप ही जिसने १६६६ ई० की आग में भस्म हो जाने के पश्चात् लन्दन

का पुनर्निर्माण किया, मकान, सार्वजनिक इमारतों और सुयोजित नगरों का यह विकास हुआ।

[५]

इसी तरह संसार के इतिहास में कई अन्य प्रतिभावान् व्यक्ति हुए हैं जो चित्रकारी एवं शिल्पकला के क्षेत्र में अमर रहेंगे। लियोनार्दो दा विंसी जैसा महान् व्यक्ति हुआ है जो न केवल अन्तरतम मानव अनुभूतियों को प्रकट करने वाले सुन्दर चित्र ही बना सकता था बल्कि जिसने कई नये विज्ञानों को जन्म दिया। लियोनार्दो ने ही पहले-पहल गुब्बारे की बात सोची थी जो बाद में बढ़कर विमान बना। विभिन्न माँसपेशियों के बीच क्या अन्तर है, उसने इसका पता लगाने के लिए शवों की चीर-फाड़ की। उसने चित्रकारी व शिल्प-कला को यथार्थवाद का पुट दिया। अन्य महान् व्यक्तियों ने उसी के सबक़ दुहराए। वे बड़ी-बड़ी तस्वीरों में, जो मुख्यतः गिरजाघरों में काम आती थीं, कई समुदायों को एक साथ चित्रित करने की 'टैकनीक' का विकास करते रहे। माइकल एंजिलो जैसे शिल्पकारों ने, जिसकी रोम में बनी हज़रत मूसा की मूर्ति कला के इतिहास में विशिष्ट स्थान रखती है, उसी प्रतिभा व अध्यवसाय का परिचय दिया।

इटली में वास्तु-कला और चित्रकारी दोनों पुनरुत्थान काल में खूब फूली-फलीं। वहीं से यह यूरोप के दूसरे देशों में पहुँचीं। विशेषतः फ्राँस में, जहाँ पेरिस-जैसे सुन्दर नगर बनाये गए और वर्सेल्स का महल और शार्त का गिरजाघर। वहाँ कई महान् चित्रकार और शिल्पकला विशारद हुए। प्रत्येक कलाकार ने राजाओं, वीर नेताओं व साधारण जनता तथा उनकी अनुभूतियों को चित्रित करने में कुछ नई देन दी। प्रत्येक युग में कला के पाठ संघर्षरत मनुष्य को अधिकाधिक संतोष एवं प्रेरणा देते आये हैं। आज भी फ्रांस के कलाकार विश्व के कलाकारों

के गुरू माने जाते हैं।

लगभग दो सौ साल पहले तक चित्रकारी, शिल्पकला, लकड़ी व लोह् का काम सब वास्तु-कला के ही अंग थे। लेकिन ज्ञान के प्रसार के साथ-ही-साथ प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपना-अपना काम कुशलतापूर्वक करने की आवश्यकता पैदा हुई और विभिन्न कलाओं का एक-दूसरे से स्वतन्त्र अस्तित्व बन गया। एक प्रकार से यह अच्छा ही था, क्योंकि लोग विभिन्न प्रकार के रूपों, रंगों और निर्माण-शैलियों के प्रयोग करके अपनी कला-कृतियों को अधिकाधिक गूढ़ एवं सुन्दर बना सकते थे। उदाहरणार्थ, विज्ञान ने चित्रकारी के विकास में बड़ा योग दिया। भौतिक शास्त्रियों ने कहा कि विभिन्न रंगों के प्रकाश में चीजें भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ती हैं। अतः चित्रकारों ने प्रकाश के प्रभाव को ध्यान में रखकर चित्रों में रंग भरने की कोशिश की। बाद में, फ्रांसीसी कलाकार सिज़ेन ने बाहरी प्रकाश के पीछे ठोस वस्तुओं के अन्तराल को चित्रित करने की कोशिश की।

[६]

वास्तु-कला एवं अन्य कलाओं की एकता हमारे देश में कहीं अधिक स्पष्ट है।

ईसा से सदियों पहले ही भवन-निर्माण का स्थान जो केवल ईट-पर-ईट और पत्थर-पर-पत्थर रखना मात्र है, वास्तु-कला ने ले लिया था, जिसे आप निर्माण का काव्य कह सकते हैं। पश्चिमी भारत में कारला, भज तथा वेदसर के गुफा-मन्दिरों में हम देखते हैं कि पत्थरों को तराशकर इन गुफाओं को बनाने वाले बौद्ध-भिक्षुओं ने शिल्प और चित्रकारी की मदद से किस प्रकार शान्ति का वातावरण जैसा वे चाहते थे, वैसा ही सृजित किया।

चिड़ियों, जानवरों और देवताओं के जो सुन्दर चित्र हमारे किसान आज भी अपने मकानों की दीवारों और दरवाजों पर बनाते हैं, उससे मालूम होता है कि अदृश्य शक्तियों पर विजय पाने के लिए जिस तालमय जादू-टोने का प्रश्रय हमारे आदि-कालीन पूर्वज लेते थे, वह आज भी उसी रूप में जीवित है। प्रमाण की कमी के कारण हम इन जन-चित्रों से अनुमान कर सकते हैं कि उस जमाने के महलों और मन्दिरों की दीवारों पर किस प्रकार के चित्र चित्रित किये जाते थे। अजन्ता और बाग-जैसे कुछ स्थान अवश्य हैं जिन्हें देखकर मालूम हो जाता है कि हमारे पुराने कलाकारों में से कई अग्रणी कलाकार थे। जीवन पर उनकी अद्भुत पकड़ थी और उसे चित्रों में प्रदर्शित करने में वे अपना सानी न रखते थे। चट्टानों को काटकर निर्मित किये गए इन गुफा-मन्दिरों की दीवारें राजाओं, रानियों, नर्तकों किसानों और साधु-सन्तों के चित्रों से भरी हैं। उस जमाने के भरे-पूरे समाज का

चित्रण इन भित्ति-चित्रों में इतनी खूबी के साथ किया गया है कि आज भी उस काल की मोहिनी और सौन्दर्य की अनुभूति हमें उल्लास से भर देती है।

विदेशी आक्रमणों और बाद के ध्वंसात्मक युद्धों ने बहुत सी सुन्दर कला-कृतियों को नष्ट कर दिया। फिर भी बाद के युग के काफी मन्दिर, नगर और मक़बरे बाकी हैं। ये इस बात का प्रमाण हैं कि जहाँ भी फ़सल अच्छी और सरकार सुयोग्य होती थी, भारतीय कल्पना नये-नये रूपों में प्रस्फुटित होती रही। दक्षिण के हिन्दू-मन्दिरों के गोपुरम, इलौरा के भित्ति-चित्र, कुतुबमीनार, अकबर का बन-

वाया हुआ लाल पत्थर का नगर फतहपुर सीकरी, उस्ताद मंसूर और जहाँगीर के दरबार के अन्य कलाकारों के बनाये हुए मोहक चित्र, अहमदाबाद के सुन्दर महल, वैभव की प्रतिमूर्ति ताज-महल और लाल क़िले का गौरव देखकर अपने देश के प्राचीन कलाकारों की कुशलता पर हमें दाँतों-तले उँगली दबानी पड़ती है।

अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी की शुरुआत तक हमारे पूर्वज सौन्दर्यशाली महल और मोहक उपवन बना रहे थे और अवकाश के समय उनके भित्ति-चित्रों या उल्लास भरे दृश्यों के अलबम देखकर अपना मनोरंजन किया करते थे। यह आश्चर्य
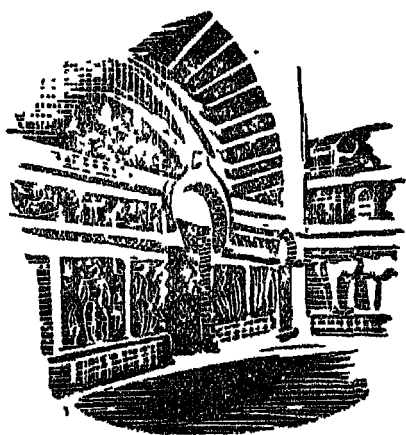
की बात है कि हमारे देशवासी किस प्रकार विदेशी गुलामी के बावजूद इन सब तथा अन्य आश्चर्यजनक चीजों की सृष्टि करते रहे।

[७]

आज दुनिया के अन्य लोगों के साथ-ही-साथ हमारे सामने भी मशीन का खतरा खड़ा है। मशीन, जो आश्चर्य की सृष्टि करती है और इतनी चीजें आनन-फानन में तैयार कर देती है, हर जगह हाथ का स्थान ले रही है। यह लोगों से स्वान्तःसुखाय अवकाश के समय अपने हाथों से
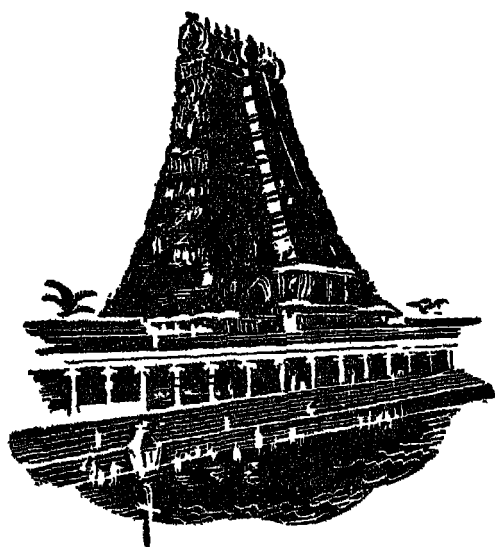
चीजें बनाने का मौका छीन लेती है। वास्तव में, हम मशीन से लगभग सभी चीजें तैयार कर सकते हैं। इसके बावजूद हमें मनोरंजन के लिए बहुत कम समय मिलता है। मनुष्य की आत्म-प्रेरणा, जो उसे नई-नई चीजें निकालने और अपने विचारों व भावनाओं को मूर्त रूप देने को प्रोत्साहित करती है, आज दबने लगी है। और यह भली भाँति ज्ञात है कि जब मानव की क्रियात्मक शक्ति और कलात्मक विकास रुद्ध हो जाता है तो वह ध्वंस की ओर अग्रसर होता है और उन तमाम चीजों का नामोनिशान मिटा देने की धमकी देने लगता है जिनकी रचना दूसरों ने इतने प्रेम, परिश्रम और चाव से की थी।

एक दूसरी बात भी है जो हमें याद रखनी चाहिए। मशीन के बने तस्वीरें और खिलौने ज्यादातर इतने खराब होते हैं कि कुछ कलाकार अपने तईं अवकाश ग्रहण कर लेते हैं। वे केवल

अपनी ही खुशी के लिए चित्र बनाने लगते हैं या अपने कुछ इने-गिने मित्रों मात्र के लिए, जो उन्हें समझ सकते हैं। आम जनता से वे घृणा-सी करने लगते हैं। इसके विपरीत मिलों में काम करने वाले मजदूर और गरीब जनता जिन्हें कला की बारीकियाँ सीखने का कभी अवसर या समय नहीं मिला, केवल फिल्म स्टारों और नेताओं के रंगीन चित्र ही पसन्द करने लगते हैं। जीवन की यथार्थता से भागकर अन्तरात्मा के अन्धेरे कोने में शरण लेना उतना ही बुरा है जितना चीजों की उल्टी-सीधी फोटोग्राफी करना। यदि मनुष्य अपनी भावनाओं व मनःसंघर्ष को समझकर अपने दिलो-दिमाग से चित्रित करने की कोशिश न करे तो कला का अस्तित्व ही न रहेगा। दुनिया में आज दुख-दर्द की कमी नहीं है और जीवन के भले तत्वों को प्राप्त करना इतना सरल है। कला ही बता सकती है कि मनुष्य अपने मार्ग की कठिनाइयों पर किस प्रकार विजय प्राप्त करके भरे-पूरे जीवन की सृष्टि कर सकते हैं। इस प्रकार मकान बनाने वाले, चित्र खींचने वाले और शिल्पकार जीवन को सुखमय बनाने के संघर्ष और सच्चे अर्थ में मानव बनने के प्रयत्न में हमारी मदद कर सकते हैं।

आठवाँ अध्याय

शब्दों की दुनिया

[१]

अमेरिका के कवि हेथोर्न ने एक बार कहा था—"हमारी बोली या भाषा पक्षियों की चीं-चीं और चहचहाट या अन्य जंगली बोलियों से कुछ ही अच्छी है।"

मगर किसी को ठीक पता नहीं कि शब्द कैसे बोले जाने लगे। इस सम्बन्ध में तरह-तरह के अनुमान लगाए जाते हैं।

हेथोर्न के सिद्धान्त को 'भों-भों' का सिद्धान्त कहते हैं। कुत्ता भौंकता है। मालूम होता है कि वह भों-भों कर रहा है। अतः इन्सान कुत्ते की बोली को 'भों-भों' कहने लगता है। मगर इस विचार में कठिनाई यह है कि हिन्दुस्तानियों को तो मुरग़ा 'कुक-डूँ कूं' कहता मालूम होता है, मगर अँग्रेजों को 'काक-ए-डूडल-डू' और इटली वालों को 'चिचरीं-ची'।

दूसरा सिद्धान्त 'टन-टन' का है जिसके अनुसार ईश्वर ने ही शब्दों के अर्थ और उनकी ध्वनि में साम्य स्थापित कर रखा है। किन्तु सब लोग तो मानते ही नहीं कि ईश्वर है भी या नहीं, इसलिए इस सिद्धान्त से भी कुछ काम नहीं बनता। ऊँह-ऊँह के सिद्धान्त के अनुसार भाषा का जन्म आश्चर्य, डर, आनन्द और दुख में उत्पन्न विस्मय आदि बोधक ध्वनियों से हुआ। यह सिद्धान्त आह-ओह के सिद्धान्त से बहुत मिलता-जुलता है, जिसके अनुसार शुरू-शुरू में काम करते और बोझ वगैरह उठाते समय मनुष्य के मुँह से निकलने वाली आवाजों से ही शब्द उत्पन्न हुए।

आह-ओह का सिद्धान्त शूम-शड़ाका के सिद्धान्त से बहुत

मिलता है। इसके अनुसार शुरू-शुरू में लोग शिकार आदि का स्वाँग करते समय जो जादू-मन्तर करते थे उसी से भाषा बनी। इसके अलावा और भी बहुत से अनुमान लगाये गए हैं, जैसे भाषा अपने-आप ही बन जाती है या यह झूठ बोलने के लिए निकाला गया एक तरीका है।

एक बात तय है। हज़ारों सालों से कुत्ते भौंकते रहे हैं, बिल्लियाँ म्याऊँ-म्याऊँ करती रही हैं, गधे रेंकते रहे हैं और शेर दहाड़ते रहे हैं, मगर आदमी की बोली और भाषा जगह-जगह और समय-समय पर बदलती रही है। इसका कारण यह है कि भाषा वास्तव में मनुष्य के काम को प्रकट करती है। जैसे-जैसे मनुष्य के काम-काज बदलते रहे वैसे ही भाषा में भी परिवर्तन होता रहा है। जब लोग एक ही स्थान पर रहते हैं तो परिवर्तन कम होता है और यदि वे इधर-उधर घूमते रहें तो नये शब्द और बोलने के नये तरीके निकलते रहते हैं। और हाँ, समय के साथ-साथ शब्दों के अर्थ में अन्तर आता रहता है, जैसे हमारे पूर्वज संस्कृत बोलते थे, लेकिन हम इसे समझ भी नहीं पाते और टूटी-फूटी हिन्दुस्तानी में बातचीत करते हैं।

अगर हम मान भी लें कि शुरू-शुरू की आवाजों से शब्द बन गए तब भी हम यह नहीं कह सकते कि ठीक-ठीक शब्द कितने दिनों में बन पाए। और लिखी हुई भाषा का जन्म होने में तो हजारों साल लग गए होंगे।

[२]

किसी भी भाषा के अस्तित्व का पहला प्रमाण मोहेनजोदड़ो और दजला-फरात की घाटियों के बीच सुमेर में मिला है। शायद ये दोनों सभ्यताएँ चार हज़ार वर्ष से पहले की और किसी प्रकार आपस में सम्बन्धित थीं।

इसके बाद के प्रमाण बेबीलोन और सीरिया में बोली जाने वाली

भाषा के हैं जो लगभग ईसा के तीन हजार वर्ष पहले तक की है। इसके बाद हमें मिस्र और चीन के अक्षर मिलते हैं जो ईसा से दो हजार वर्ष पहले के जान पड़ते हैं।

आरम्भ की इन भाषाओं के बाद की भाषाओं के ढेरों प्रमाण मिलते हैं जिनसे मालूम हो जाता है कि किस प्रकार आदि भाषाओं से तरह-तरह की प्रादेशिक बोलियाँ निकलती गईं।

आइए, अब हम कुछ पुरानी लिपियों का निरीक्षण करें।

[३]

जब हम देखते हैं कि मनुष्य किस तरह अपनी तरह-तरह की आवाजों को अक्षर-बद्ध करने लगा, तो हमें बड़ा आश्चर्य होता है।

प्रारम्भ में तो उसे जो-कुछ कहना होता था वह उसे चिह्नों द्वारा कहता था। इन चिह्नों को वह पत्थर, मिट्टी या पेड़ों पर खरोंच देता था। ये चिह्न शब्द तो नहीं थे पर इनसे भाव स्पष्ट हो जाता था। उदाहरण के लिए जब आप किसी चौराहे पर तीर का निशान देखते हैं तो आप यह नहीं सोचते कि कोई शिकारी तीर-कमान लिये खड़ा है। आप केवल यह समझते हैं कि तीर उस ओर इशारा कर रहा है जिधर आपको जाना चाहिए। फिर जब आप सड़क पर हाथ का निशान देखते हैं तो आप समझ जाते हैं कि वहाँ आपको रुकना है, यह नहीं कि सिर्फ एक हाथ की तस्वीर बनी हुई है। ऐसा लगता है कि बहुत दिन हुए लोग अपनी बात इस तरह के निशानों और तस्वीरों के जरिए कहते थे।

प्राचीन काल में मिस्र वाले इसी प्रकार की तस्वीरों से अपने भाव प्रकट करते थे। परन्तु क्योंकि अब कोई मिस्र वाला हमें यह बताने को नहीं है कि मिस्र की पुरानी भाषा बोलने में कैसी लगती थी, हम केवल उसके अर्थ का ही अनुमान लगा सकते हैं।

चीन वालों के चित्रात्मक चिह्न जरा और आसानी से समझे

जा सकते हैं यद्यपि आजकल की चीनी लिपि में इन चित्रों का रूप लगभग पूर्णतः परिवर्तित हो गया है।

पहले बच्चे का चित्र कुछ इस तरह का होता था।

और अब यह इस प्रकार का होता है।

पुराने जमाने में पहाड़ ऐसे दिखाया जाता था।

अब यह इस प्रकार का होता है।

इस अगले चित्र में यह दिखाया गया है कि पुराने जमाने में चीनी भाषा में 'घोड़ा' कैसे लिखा जाता था और अब कैसे लिखा जाता है।

इस प्रकार की लिपि को यूनानी भाषा में 'आइडियो ग्राफ' या भाव-लिपि कहते हैं, क्योंकि इसमें चित्र से अर्थ का बोध होता है, न कि ध्वनि का।

अब हमारा लिखने का ढंग सर्वथा बदल गया है। हम या तो ध्वनि या बोले जाने वाले शब्द लिखते हैं। और हम अक्षरों का प्रयोग करते हैं जिनकी ध्वनि निश्चित है, परन्तु जिनका अपना कोई अर्थ नहीं होता। इस लिपि को ध्वनि-लिपि कहते हैं।

इस प्रकार जितने भी अक्षरों का हम प्रयोग करते हैं, हर एक

की अपनी लम्बी और मनोरंजक कहानी है।

[४]

इन भाषाओं को छोड़कर जो मृत हैं या बोली नहीं जातीं सब से पुरानी भाषाएँ, जिनके सम्बन्ध में हमें कोई निश्चित जानकारी नहीं है, भारतीय-यूरोपीय परिवार की हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि कुछ क़बीले मध्य-एशिया से चारों ओर निकल पड़े। उन्हें आर्य कहते हैं। उनमें से कुछ यूरोप की ओर चले गए। कुछ ईरान और बाल्टिक सागर के तट से होते हुए भारत आए। भारतीय-यूरोपीय भाषाओं में संस्कृत, ग्रीक, लैटिन तथा पहेलवी हैं। इन भाषाओं के बहुत से शब्द आपस में मिलते-जुलते हैं। इनमें से कुछ शब्द बरफ, देवदार, चीड़, घोड़ा, भालू, बाल, भेड़िया, ताँबे और लोहे के लिए हैं। इससे लगता है कि ये लोग ताम्र-पाषाण युग में ईसा से लगभग २५०० वर्ष पूर्व रहते थे।

शब्दों और मन्त्रों के बोले जाने और लिखे जाने के बीच जो समय लगा वह हमारे अपने इतिहास से स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि यह निश्चित है कि हमारे वेदों के श्लोकों का पाठ बहुत पहले होने लगा था यद्यपि वे बहुत बाद में लिखे गए। पिता अपने पुत्र को ये श्लोक कण्ठस्थ करा देता था और वह अपने वंशजों को। इसी प्रकार ये पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते गए। फिर भी वैदिक मन्त्र संसार की सबसे पुरानी लिखी हुई चीज़ों में से हैं।

[५]

पं० नेहरू ने कहा है, "यदि मुझसे पूछा जाय कि भारत के

पास सबसे बड़ा खजाना क्या है और उसका सुन्दरतम दायित्व क्या है तो मैं बिना किसी झिझक के उत्तर दूँगा कि यह संस्कृत वाङ्मय और उसमें उपलब्ध साहित्य है।"

यह वास्तव में सत्य भी है, क्योंकि यदि हम उन आश्चर्य-जनक बातों के बारे में सोचें जो हमारे पूर्वज प्रारम्भिक ग्रन्थों में उस समय लिख गए थे जब यूरोप के लोग अभी इन बातों में बच्चे थे, तो हमारा अपनी विरासत पर गर्व करना न्यायोचित ही होगा।

यह विरासत क्या है ?

यह वेदों के सुन्दर, संगीतमय काव्य में है। यह उपनिषदों के बुद्धिपूर्ण मन्त्रों में है। रामायण और महाभारत जैसे विशाल महाकाव्यों में यह है। यह कालिदास और हर्ष व शूद्रक के अमर नाटकों में भावना, अनुभूति और चरित्र के चित्रण में है। इन सभी ने हमारे पूर्वजों को शिक्षा दी थी कि जीना कैसे चाहिए।

ऋग्वेद के प्रारम्भिक श्लोक साधारणतः सरल हैं। मालूम होता है कि इन्हें गाने वाली जातियों को प्रकृति की भयावह शक्तियों, आँधी-तूफान, ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों, आग और पेड़ों से भरे घने जंगलों का सामना करना पड़ता था। वे समझते थे कि इनमें से हरेक चीज़ की अपनी-अपनी आत्मा होती है। अतः उन्होंने तूफान लाने के लिए रुद्र, वर्षा देने के लिए इन्द्र, आग के लिए अग्नि और धूप के लिए सूर्य आदि कई देवताओं की कल्पना की। वे लोग अच्छी फसल देने के लिए इन सभी देवताओं से प्राथना करते थे, उनकी पूजा करते थे, और बलि चढ़ाते थे। बाद में ऋग्वेद में और सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में उन्होंने अधिक गूढ़ प्रश्न पूछने शुरू किये। जीवन दुरूह होने लगा था और कई समस्याएँ उठने लगी थीं। अतः उन्होंने तरह-तरह के अनुमान लगाकर इन समस्याओं और सृष्टि की पहेली को हल

करने की कोशिश की। शायद आपको याद होगा कि 'सृष्टिसूक्त' इस विश्व में जीवन का रहस्य सुलझाने में बड़ी सहायता करता है।

उपनिषदों में हम देखते हैं कि कबीले गाँवों में बस गए हैं और एक-दूसरे से उन्होंने अपने सम्बंध सुस्थिर कर लिए हैं। अतः वे देवताओं से अपने सम्बंध की खोज करने की कोशिश करते हैं और बड़े वादविवाद के बाद एक परम ब्रह्म परमेश्वर की भावना का उदय होता है। यह बाकी सभी देवताओं का परम देवता है। उपनिषदों में सृष्टि की बात इसी तरह समझाई गई है। परम ब्रह्म परमेश्वर ने एक बार विभिन्न जीवों की सृष्टि करने की कामना की और सृष्टि एवं मानव का जन्म हुआ। और जिस तरह परमात्मा के एक से अनेक होने की कामना से सृष्टि की विभिन्न चीजों का जन्म हुआ उसी तरह प्रत्येक जीवात्मा उस सर्वशक्तिमान में लीन होकर एकात्म लाभ करने का इच्छुक है।

सरल-से मालूम होने वाले इस गूढ़ विचार ने लगभग दो हज़ार वर्षों तक हिन्दुओं के मस्तिष्क पर सर्वोपरि प्रभाव डाला है। असल में इस सिद्धान्त में कई तरह के परिवर्तन हुए। लेकिन लगभग सभी संस्कृत ग्रन्थों में यह है।

जिन दिनों वेदों और उपनिषदों जैसे महाग्रन्थ लिखे जा रहे थे और महाकाव्यों की रचना हो रही थी, आर्य जातियाँ नवपाषाण-युग के आदिवासियों से युद्धरत थीं। उन पर विजय पाने के बाद उन्होंने ग्राम्य-जीवन की सुव्यवस्था उस आधार पर की जिसे हम वर्ण-भेद कहते हैं। क़बीलों के वृद्ध लोग, जो पुजारी-पुरोहित का काम करते थे, ब्राह्मण कहलाए। उनसे युवा योद्धा क्षत्रिय कहलाए। व्यापारियों को वैश्य नाम दिया गया। निम्न कर्मचारी शूद्रों की श्रेणी में रखे गए जो अधिकांशतः विजित लोगों में से संगठित किये थे। यह विभाजन पहले वर्ष रंग पर आधारित था, क्योंकि आर्य गौर वर्ण के थे और द्रविड़ काले रंग के।

बाद में यह काम का विभाजन बन गया और इसने एक नये समाज का निर्माण करने में सहायता दी। लेकिन दो सौ वर्ष के बाद इसके फल-स्वरूप कई समस्याएँ उत्पन्न होनी शुरू हुई, क्योंकि पुजारी-गण नीची जातियों को नीची नज़र से देखते थे।

इसी समय दो महान् व्यक्तियों—गौतम और महावीर—का उदय हुआ। ऊँची जाति वाले नीची जाति वालों से जिस क्रूरता का व्यवहार करते थे, उन्हें वह पसन्द न था। और उन दोनों ने ही कहा कि सभी इन्सान भाई-भाई हैं। इन दोनों महात्माओं के दिलों में सभी जीवों के लिए अपार करुणा और दया थी—जानवरों और पेड़-पौधों के लिए भी। उन्होंने शिक्षा दी कि किसी को भी किसी दूसरे जीव को चोट नहीं पहुँचानी चाहिए। पुजारी-पुरोहितों ने संस्कृत को दुरूह से दुरूहतर बना दिया था। अतः साधारण जनता प्राकृत भाषाओं में बातचीत करती थी। गौतम और महावीर ने अपनी शिक्षाएँ देने के लिए प्राकृत भाषाओं का उपयोग किया जिसे साधारण विकास हुआ। जनता समझ सकती थी। इस तरह जनता की भाषाओं का हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी और जो अन्य भाषाएँ हम आजकल बोलते हैं और लिखते हैं, इसी प्रकार बनीं।

लेकिन संस्कृत ही वह भाषा थी जिसमें देवताओं और मनुष्यों के बारे में ग्रन्थ रचे गए। ये हमें आज भी उपलब्ध हैं। हम देखते हैं कि मानव-जीवन का कोई भी अंग नहीं है जिसकी चर्चा

हमारे देश के महान् साहित्य में न हुई हो। उनमें से कुछ ग्रन्थ तो विश्व में सुन्दरतम हैं जो विश्व की बाकी भाषाओं में सृजित किसी भी सुन्दर साहित्य के बराबर हैं।

[६]

चीन के साहित्यकारों और विचारकों का समृद्धिशाली इतिहास उतना ही पुराना है जितना हमारा। लेकिन हमें उनके प्राचीन ग्रन्थों के बारे में अधिक नहीं मालूम। भित्ति-चित्रों की धुंधली आकृतियों की ही भाँति ये महान् व्यक्ति इतिहास में अवतरित होते मालूम होते हैं। चीन के अतीत की गौरव-गाथाओं और प्राचीन किंवदन्तियों से हमें कुछ प्राचीन महर्षियों का ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ, चीन में याओ नामक एक दार्शनिक राजा हुआ था। उसके बाद उसका उत्तराधिकारी शुन हुआ जो दयालु सम्राट् माना जाता है। फिर वहाँ यू महान्

हुआ, जिसने बाढ़ों पर नियन्त्रण किया और एक राजवंश की नींव डाली। और भी कई व्यक्ति वहाँ हुए जिनके विचार कविताओं तथा ज्ञान से भरे उपदेशों के रूप में आज भी मिलते हैं।

चीन के इस लम्बे अतीत का ज्ञान हमें अधिकांशतः कन्फ्यूशस नामक महात्मा से होता है जो ईसा पूर्व ५५१ से ४७९ ई० पूर्व तक जीवित थे। उनका असली नाम कुंग फू-त्जू था। साधारणत उन्हें 'गुरुदेव' कहा जाता है, क्योंकि जो बुद्धिपूर्ण उपदेश और ज्ञान की बातें उन्होंने अपने ग्रन्थों में लिखीं, वे अब तक चीन के धर्म-शास्त्र गिने जाते थे।

मानव के बारे में कन्फ्यूशस के विचार अत्युच्च थे। उन्होंने यह लिखने की कोशिश की कि लोगों को एक-दूसरे से कैसा व्यवहार करना चाहिए। राजकुमारों और जन-साधारण दोनों से ही उनका समान मित्र-भाव था। सभी से वे छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी चीजों के बारे में बात करते थे। वे महसूस

करते थे कि इन्सान को प्रकृति की भाँति सीधा, सच्चा और स्वच्छ-हृदय होना चाहिए। वे चीनी जनता को सम्राट् के बच्चों की तरह समझते थे। स्वयं सम्राट् को ईश्वर का पुत्र समझा जाता था। यही कारण है कि चीनी सम्राट हज़ारों वर्षों तक शासन करते रहे।

चीन के दूसरे महर्षि जो कन्फ्यूशस के बाद हुए, मेन्शियस थे।

लेकिन कन्फ्यूशस से भी पहले लाओ त्जू हुए थे। उन्होंने भी शिक्षा दी थी कि मानव को प्रकृति का अनुसरण करना चाहिए। लेकिन उन्होंने अपनी शिक्षा रूपकों में दी, जिससे मालूम होता है कि वे कुछ गूढ़ विचार सामने रखना चाहते थे। उदाहरणार्थ, जब वे जंगली जानवरों, गैण्डे, जंगली भैंसे या शेर की चर्चा करते हैं तो वे उन्हें उन खतरों का प्रतीक मानते हैं जिनसे मनुष्य को 'ताओ' बचा सकती है, जिसे आप रहस्यमय शक्ति कह सकते हैं। लाओ त्जू और उनके मतावलम्बियों ने चीनी जनता के विचारों और साहित्य पर उतना ही प्रभाव डाला जितना कन्फ्यूशस ने।

लेकिन बहुत सा सुन्दर काव्य बाद में उन महात्माओं ने लिखा जो जीवन से जीवन के लिए प्रेम करते थे। इस तरह सैकड़ों कवि हुए हैं। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध ली पो और पो चु थे। उन्होंने प्रकृति के विविध सुन्दर रूपों की अनुभूति के साथ ही अपने कल्पना-चित्रों को कविता का रूप दिया।

चीनियों ने भी बहुत पहले ही वीरों की गाथाएँ लिखनी शुरू कीं। इनमें लम्बे उपन्यासों में से एक 'सभी इन्सान भाई हैं' विश्व के इने-गिने प्रारम्भिक उपन्यासों में से है।

बहुत दिनों तक चीन की लिखने और बोलने की भाषाएँ अलग-अलग थीं। लेकिन पिछले पचास वर्षों में बोलने की भाषा ही लिखी जाने लगी है। इस नई जबान में कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

तीसरी महान् साहित्य-गंगा यूनान में प्रवाहित हुई। यूनानी साहित्य, संस्कृत और चीनी साहित्य की ही भांति महान् यूनानी सभ्यता के निर्माण में लगे यूनानियों के जीवन, कार्यों और अनुभूतियों का दर्पण है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, यूनानियों ने अपने बड़े-बड़े नगरों का निर्माण मेहनती गुलामों की ही मदद से किया था। अतः उन लोगों के विचार उस अवकाश के काल में प्रस्फुटित हुए जो साधारणतः महात्माओं को बैठकर चिन्तन कार्य के लिए मिलता था।

हमारे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि चूंकि यूनानी सभ्यता का निर्माण गुलामों द्वारा हुआ था इसलिए उनके मनीषियों के बुद्धि-पूर्ण कथन असत्य हैं। असल में उस समय उच्च पदस्थ लोग, जो यूनान पर शासन करते थे और जिन्होंने नगर-राज्यों का निर्माण किया,

उतने ही प्रगतिशील थे जितने आर्य, जिन्होंने जाति-व्यवस्था को जन्म दिया।

यूनान के कई विचारक,—सुकरात, प्लेटो और अरस्तू—विश्व

भर में किंवदन्तियों की तरह प्रसिद्ध हो गए हैं। सुकरात लोगों से जीवन और जीवन की समस्याओं पर बातचीत करते हुए घूमते-फिरते थे। वे इतनी सचाई से बोलते थे कि कुछ लोग उनसे चिढ़ने लगे। उनके शत्रुओं ने कहा कि वह कच्ची उम्र के लोगों को गुमराह करते हैं। अतः उन्होंने एक अदालत में सुकरात पर मुकदमा चलाया और उन्हें जहर पीने को बाध्य किया। लेकिन उन्होंने जो उपदेश दिये थे वे सब उनके शिष्य प्लेटो ने संवाद और बातचीत के रूप में लिख लिए। सुकरात के विचार लेखनीबद्ध करते हुए प्लेटो ने उसमें अपने भी कई विचार जोड़ दिए। उनके ग्रन्थों में सृष्टि कैसे शुरू हुई, कैसे इसका विकास हुआ और इन्सान को कैसे रहना चाहिए आदि प्रश्नों पर और विभिन्न यूनानी महात्माओं के विचारों में जो मतान्तर था, हमें स्पष्ट हो जाता है।

यूनानी महात्माओं की महत्ता इसी बात में थी कि वे सदा नई-नई बातों की जानकारी प्राप्त करने की कोशिश करते थे। सदा ही वे प्रश्न और शंकाएँ करते और नये सत्यों का पता लगाते रहते थे। अन्वेषण की यह प्रवृत्ति हिपोक्रेटिज नामक महात्मा के ग्रन्थों में स्पष्ट है: "हमारे जीवन-यापन का वर्तमान ढंग मेरे विचार से अन्वेषण और विकास के लम्बे युग का फल है…"

हेराक्लाइटस से लेकर—जिसका विश्वास था कि सृष्टि का तत्त्व अग्नि ही है—अरस्तू तक—जिसने प्रत्येक चीज का पता लगाने के लिए वैज्ञानिक तरीक़े अपनाए—यूनानियों के विचार यूरोप के जीवन और विचार का अंग बन गए हैं। आज यूनानी दार्शनिकों और लेखकों ने जिन विचारों का प्रतिपादन किया था उनकी प्रतिष्ठा विश्व के सभी भागों के लोग करते हैं।

साहित्य की एक और धारा लैटिन का विकास रोमन साम्राज्य के साथ-साथ हुआ, आज यह पाश्चात्य परम्परा का अंग है। विश्व के कुछ महत्तम कवियों और विचारकों ने इसी भाषा में रचना की।

माध्यमिक काल, यानी लगभग ६०० वर्ष पूर्व तक, लैटिन ही यूरोप के सभी देशों की भाषा थी। ईसाइयों के गिरजाघर, जहाँ इसी भाषा का प्रयोग होता था, सभी जगह मान्य थे।

लेकिन शीघ्र ही ईसाइयों में झगड़े शुरू हो गए। कई व्यक्ति उन आज्ञाओं का भी विरोध करने लगे जो ईसाइयों के गिरजाघरों के प्रधान पोप निकालते थे। इस प्रकार ज्ञान और प्रकाश का नया युग शुरू हुआ, जिसे पुनरुत्थान-काल कहते हैं। पुनरुत्थान में योग देने वाले कवियों में डैण्टे और पेट्रार्क प्रमुखतम थे। जब कि नरक के भय से जहाँ पोप के कथनानुसार उन्हें पापों के लिए जाना अनिवार्य था, पादरीगण मुँह लटकाए घूमते थे, इन नये कवियों ने प्रेम और जन-साधारण तथा सुन्दर-सुन्दर चीजों के बारे में काव्य-रचना की। इसी काल में कथाकार बोकैशियो ने आदमियों के भले और बुरे कर्मों के बारे में अपने आरम्भिक उपन्यास लिखे।
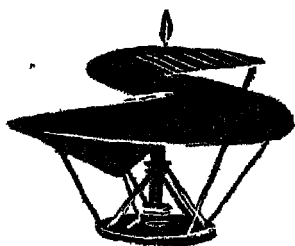
और जब कि बड़े बूढ़े बिना किसी भी प्रकार की शंका किये अपने पुराने अन्ध-विश्वासों को दिल से लगाए थे, युवकों की पीढ़ी ने गिरजाघर और भाषण गृह छोड़कर सत्य पर आधारित चीजों का पता लगाना और कहना शुरू किया। वैज्ञानिक प्रवृत्ति बढ़ रही थी और मनुष्य विश्व का स्वामी बनने लगा था।

इस नई आग के साथ लोगों ने पुस्तकें लिखने, चित्र बनाने, अन्वेषणशालाओं में प्रयोग करने और इस बात का पता लगाने के लिए कि पृथ्वी कैसी है, अथाह समुद्रों में जाना शुरू किया। लियोनार्दो दा विंसी इसी किस्म का व्यक्ति था जिसे हम इस नये युग का प्रतीक कह सकते हैं। उसने अपने विचार पुस्तकों में प्रकट किए, पत्थरों में शिल्पकारी की, चित्र बनाए और वायु-

यान बनाने और वह प्रत्येक चीज़ करने की कोशिश की जो मनुष्य को प्रगति के मार्ग पर ले जाय। कोलम्बस पुनरुत्थान काल का दूसरा व्यक्ति था। वह भारत के मार्ग का पता लगाना चाहता था, लेकिन उसने अमेरिका को खोज निकाला।

इसी समय यूरोप के विभिन्न देशों के महान् साहित्य की रचना लैटिन के बदले स्थानीय भाषाओं में होने लगी। अंग्रेज़ कवि शेक्सपियर ने इस नये जीवन की अनुभूति प्रकट करने में सर्वाधिक श्रेष्ठता प्राप्त की।

पुनरुत्थान के साथ ही एक नया आन्दोलन चल रहा था जिसे धर्म-सुधार कहते हैं। ईसाई गिरजाघर अत्यन्त शक्तिशाली हो गए थे और लोगों को नये विचार अपनाने की स्वतन्त्रता न देते थे। अतः कई साहसी व्यक्तियों ने तय किया कि ईसाई मतावलम्बी होते हुए भी वे उन सभी चमत्कारों में विश्वास नहीं कर सकते जिनमें आस्था रखने को पोप कहते थे। अतः उन्होंने धर्म को प्रत्येक व्यक्ति का निजी मामला बनाना चाहा। इरास्मस नामक एक डच ने कैथॉलिक गिरजे के मूर्ख और घमण्डी पादरियों पर, जो जनता द्वारा गिरजाघरों को दान में दी उपजाऊ भूमि पर मजे में रहते थे, लेकिन वास्तव में भले आदमी न थे, दोषारोपण शुरू किया। इरास्मस चाहता था कि ईसाई अधिक सच्चे और ईमानदार बनें।

उसके बाद मार्टिन ल्यूथर हुआ। ल्यूथर एक जर्मन किसान था। उसने बाइबिल का अध्ययन किया और देखा कि ईसा के शब्दों और पोप व उनके धर्म-गुरुओं द्वारा इस्तेमाल किये जाने वाले शब्दों में कितना अन्तर है। उसने खुले-आम पोप का विरोध किया। पादरीगण उससे घृणा करने लगे। उसके बाद जो झगड़े शुरू हुए, उनमें ल्यूथर की भाँति विरोध ('प्रोटेस्ट') करने वाले 'प्रोटेस्टएट' ईसाई बन गए और कैथॉलिक गिरजे से अलग हो गए। पोप का साम्राज्य समाप्त हो गया और ईश्वर के प्रति नये तथा अधिक तर्कसंगत रुखों की चर्चा होने लगी। अक्सर ये सब आपसी झगड़े हिंसा और युद्ध के कारण बने।

लेकिन मानव का यशोगान करने वाली विज्ञान और दर्शन, कविता व नाटक की पुस्तकों की और चित्रों की संख्या दिनों-दिन बढ़ने लगी। और इस साहित्य व कला ने ही हमारे दिल-दिमाग पर छाकर, हमें वह बना दिया जो हम आज हैं।
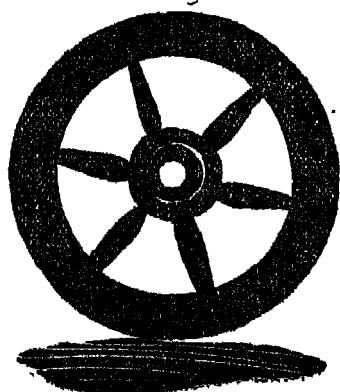
नवाँ अध्याय

यन्त्र-युगीन सभ्यता का जन्म

[१]

क्या आपको मालूम था कि जिस मनुष्य ने सबसे पहले पहिये की कल्पना की वह शायद संसार का सबसे बड़ा आविष्कारक था ?

आप पूछ सकते हैं कि मैं ऐसा क्यों कह रहा हूँ। मनुष्य ने जैसे-जैसे अद्भुत और विलक्षण कार्य किए हैं उनसे आपको परिचित कराने के बाद मेरा यह कहना कि पहिया या चक्र अन्य सभी सुन्दर तथा विलक्षण चीजों से अधिक महत्त्वपूर्ण है, निस्सन्देह एक प्रश्नवाचक विषय बन जाता है। ऐसी हालत में आपका यह प्रश्न स्वाभाविक ही होगा कि ऐसा कैसे हो सकता है।

बात यह है कि एक बार अन्न-संग्रह करने की आदत पड़ जाने पर मनुष्य जब तक पहिये का आविष्कार न कर लेता तब तक

वह कोई तरक्की नहीं कर सकता था। पहिये की ही मदद से मनुष्य ने प्याला बनाया जिससे वह पीने का काम लेता है। खेतों में सिंचाई के लिए कुओं से पानी निकालने में पहिये की मदद ली गई है। बैलगाड़ी, रेलगाड़ी और हवाई जहाज भी इसी पहिये की मदद से चलते हैं। इतना ही नहीं, कारखानों में हज़ारों मशीनें इसी पहिये की मदद से चलती हैं। इन्हीं से हमें कपड़ा और प्लास्टिक की चीजें मिलती हैं। इन्हीं मशीनों से औज़ार तैयार होते हैं जिनकी सहायता से और दूसरे आवश्यक औज़ार बनाए जाते हैं। और इन सभी वस्तुओं से मिलकर हमारी सभ्यता बनती है।

आइए, अब हम यह जानने की कोशिश करें कि यह जीवन-चक्र, जिसकी मदद से हमें सारी चीजें उपलब्ध होती हैं और जिसकी वजह से आज के युग में हमारे विचार और व्यवहार एक प्रकार के ही ढाँचे में ढलकर बनते और बिगड़ते हैं, चलता कैसे था।

साधारणतः हमें ठीक-ठीक नहीं मालूम कि मनुष्य ने इस पहिये की कब और कैसे खोज की। लेकिन हम इसके बारे में एक कहानी की कल्पना या रचना अवश्य कर सकते हैं। सम्भव है कि एक दिन ऐसा हुआ कि मनुष्य आग जलाने के लिए लकड़ी के लिए पेड़ का तना काटकर अपनी पीठ पर लादे ले जाने से तंग आ गया और वह उसे घसीटने लगा, अथवा पहाड़ी से नीचे लुढ़काने लगा। और लकड़ी के इस लुढ़कते हुए कुन्दे को देखकर उसे पहले-पहल घूमते हुए पहिये का खयाल आया।

असल में, ऐसा प्रतीत होता है कि सबसे पहला पहिया कुम्हार का चाक रहा होगा। आज से पाँच हजार साल पहले, मोहेनजोदड़ो के लोग निश्चय ही जानते थे कि इस तरह का चाक कैसे घुमाया जाता है। इसके प्रमाण में सभी किस्म के और सभी शक्लों के मिट्टी

के बरतन हमें मिलते हैं। ये बरतन निश्चय ही कुम्हार के चाक पर बनाये गए थे। मिस्र में कुम्हार के पहिये या चाक के बारे में लोगों की जानकारी इससे भी बहुत पहले की थी और चीन में भी अत्यन्त प्राचीन काल से लोगों को इसका पता था। लेकिन सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि यद्यपि इस पहिये को देखकर और कई तरह के पहिये बाद में बनाये गए, लेकिन तिस पर भी हजारों साल गुजर जाने के बाद आज तक कुम्हार के उस आदि-कालीन चाक में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। इसलिए आज भी जब आप गाँव में किसी कुम्हार को अपना चाक घुमाते और अपने हाथ से उस पर मिट्टी की विभिन्न चीजें बनाते देखते हैं तो

आप कल्पना कर सकते हैं कि मोहेनजोदड़ो के युग का कुम्हार भी उसी तरह बैठा अपने बरतन और दूसरी चीजें बनाता रहा होगा। बहुत सम्भव है कि प्रारम्भ में कुम्हार एक हाथ से पहिया घुमाता और दूसरे हाथ से मिट्टी को नये-नये रूप देता रहा हो। बाद में उसने पाँवों से यह पहिया घुमाना सीख लिया और दोनों हाथों से मिट्टी ढालने का काम लेने लगा। उसके बाद वह इस पहिये को रस्सी से घुमाना सीख गया जो कि चाक के गिर्द लिपटी रहती थी। यह चाक एक और पहिये से बँधा रहता था जिसे कोई दूसरा आदमी घुमाता था, लेकिन उस शुरू के जमाने के कुम्हारों की निपुणता भी उतनी ही विलक्षण होती थी जितनी कि आजकल के कुम्हारों की। जिस समय मनुष्य ने कुम्हार का चाक घुमाना सीखा, लगभग उसी समय उसने लकड़ी के बड़े-बड़े कुन्दों के किनारों को काटकर लकड़ी के गोलाकार चक्र बनाने सीख लिए। लकड़ी के ये गोलाकार चक्र पहिये के भीतर धुरे से जुड़े रहते थे। इस तरह पहले-पहल बैलगाड़ियों के लिए पहिये बनाये गए। इन बैलगाड़ियों का मोहेनजोदड़ो, चीन और रोम में काफी प्रचार था।

[२]

हजारों वर्ष पूर्व ही इन्सान ने घोड़ा-गाड़ियाँ या रथ भी बनाये जिन्हें एक, दो, तीन और कभी-कभी चार-चार घोड़े खींचते थे। रथ बड़ी तेज रफ्तार से चल सकते थे और शिकार में उनका बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग रहता था। अपनी आजीविका के लिए हमारे पूर्वज उन्हीं पर निर्भर करते थे और युद्धों में इन्हीं रथों पर चढ़कर वे अपने शत्रुओं से लड़ते थे।

महाभारत में रथों का उल्लेख हुआ है और मिस्र, यूनान, रोम और असीरिया आदि देशों के रथों के प्राचीन कालीन चित्र भी पाए जाते हैं। यह भारतीय वाहन जिसे हम रथ कहते हैं सुन्दर नक्काशी की हुई लकड़ी का बना और देखने में विशाल-

काय होता था। इसे चलाना आसान नहीं था। शायद आपको याद होगा कि कुरुक्षेत्र के रणस्थल में भगवान् कृष्ण के सिवाय अन्य कोई अर्जुन के रथ के लिए योग्य सारथी न प्रमाणित हो सका।
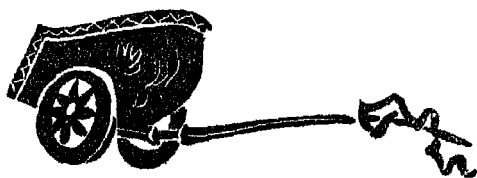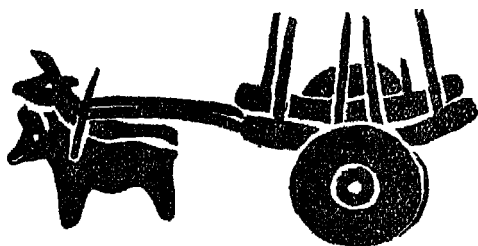
मिस्र का रथ हल्का होता था। इसका ढाँचा लकड़ी का था और बटी हुई रस्सियों की जाली से रथ का फर्श या बैठने का स्थान तैयार होता था। पहिये दूर-दूर और चमड़े की पट्टियों
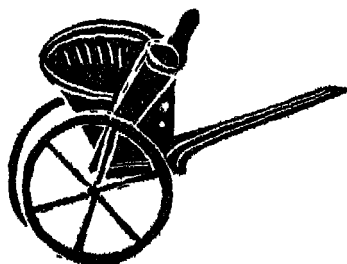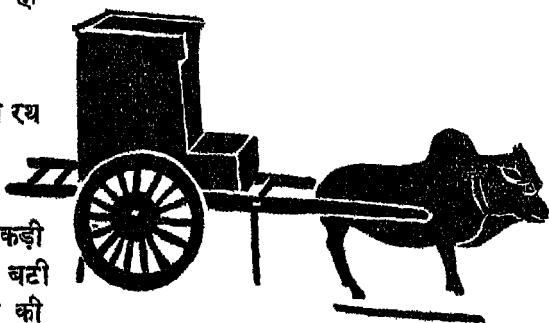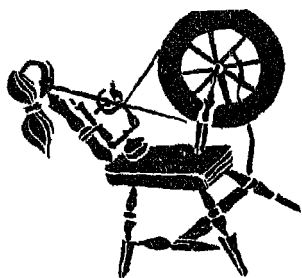
से धुरे में कसे होते थे। युद्ध में काम आने वाले रथों में छः और अन्य साधारण रथों में चार आरे होते थे।
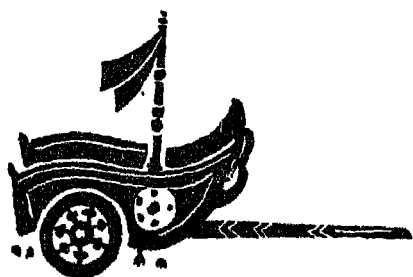
असीरिया का रथ भारतीय रथ की ही भाँति भारी और अधिक विशालकाय था। किसी-किसी रथ के पहियों की हाल धातु की होती थी।
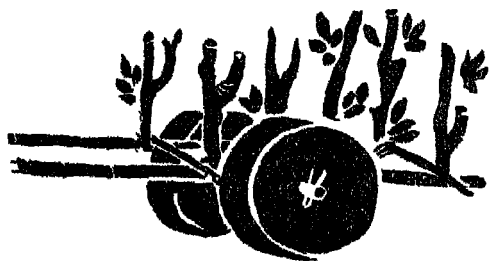
यूनान देश का रथ सोने और चाँदी से मढ़ा तथा अमूल्य कारीगरी युक्त और सुडौल होता था। इसके पहिये पीतल के और धुरा फौलाद का होता था। प्रत्येक पहिये में आठ
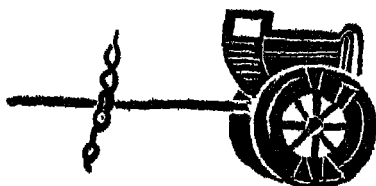
आरे होते थे। यह अत्यन्त शीघ्रगामी होता था।

रोम-वासियों ने यूनान के रथों की अपेक्षा इसका अच्छा विकास किया। उन्होंने अपने रथ लकड़ी के बनाए। रास्ते की परेशानियों से बचने के लिए उन्होंने धुरों में आरे लगाए।

युद्ध में काम आने तथा एक स्थान से दूसरे स्थान को सामान ले जाने में उसकी सहायता लेने से पहले भी पहियों का उपयोग कुओं से पानी खींचने में होता था। लोग पहले रस्सी की सहायता से चमड़े के डोल द्वारा पानी निकालते थे। यह कार्य कठिन था क्योंकि यदि कोई शरीर का सन्तुलन खो बैठता तो कुएँ में जा गिरता।

इसके बाद कुएँ से पानी निकालने का एक अधिक सरल रास्ता निकला। डोल रस्सी के एक सिरे से बाँध दिया जाता था और उसका दूसरा सिरा एक ऐसी लग्घी या बाँस से बँधा रहता था जिसके दूसरे छोर पर एक भारी पत्थर लटकता रहता था। तत्पश्चात् लकड़ी की गोल चरखी का आविष्कार हुआ। हाथ से जैसे ही चरखी चलाई जाती उसके ऊपर रस्सी भी लपेटा खाती और घड़ा कुएँ की पाट के पास ऊपर आ पहुँचता। हमारे देश के
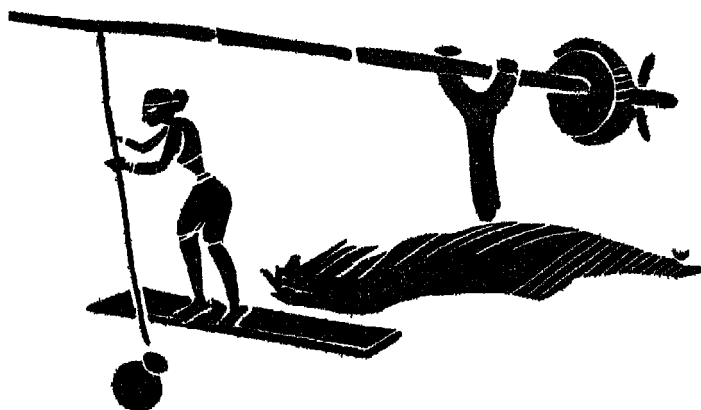
हर भाग में ऐसे कुएँ देखे जा सकते हैं। कुएँ से पानी खींचने का दूसरा तरीका फारस के रहट के ढंग का था। इसमें पहिये की
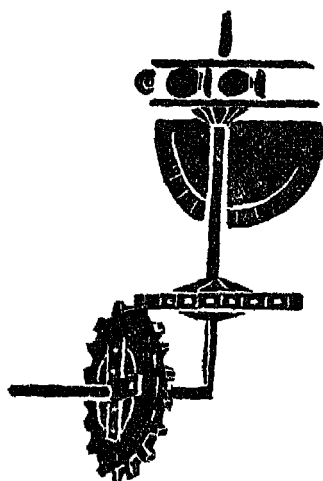
गोलाई के साथ-साथ बँधे हुए छोटे-छोटे घड़े भी चक्कर काटते हैं। यह पहिया एक दूसरे पहिये की सहायता से चलता है जिसे दो बैल खींचकर गोलाकार घुमाते रहते हैं। जैसे ही छोटे-छोटे घड़े पहिये के साथ क्रमशः नीचे की ओर घूमते जाते हैं उनका पानी नीचे नाली में गिरता जाता है। इस तरह पानी खेतों में ले जाया जाता है।

पहिये का व्यवहार सूत कातने के काम में भी होता था जैसे तकली में, जिसका प्रचार महात्मा गांधी ने अपने देश में पुनः चालू किया। एक और तरह का उपयोग दो पाटों में एक पहिये का होता था जिसे चक्की के पाट कहते हैं। सारी दुनिया में औरतें अकेले या किसी और को साथ लेकर खूँटी से ऊपर वाले पाट को चलाकर दो पाटों की चक्की में अनाज या गेहूँ पीसती हैं।

ईसा से कुछ पूर्व मनुष्य ने पानी की चक्की का आविष्कार किया। इसमें बहते हुए पानी के दबाव से पहिया चलाया जाता था और इस तरह शक्ति उत्पन्न करके चक्की के पाटों में अनाज पीसा जाता था। प्रथम शताब्दी में इसी सम्बन्ध में यूनान के एक कवि ने लिखा था :

"पिसनहारी बालाओ, अब पीसने के कठिन कार्य में हाथ न लगाओ, क्योंकि डेमेटर ने तुम्हें इस कार्य से मुक्त कर दिया है, अब
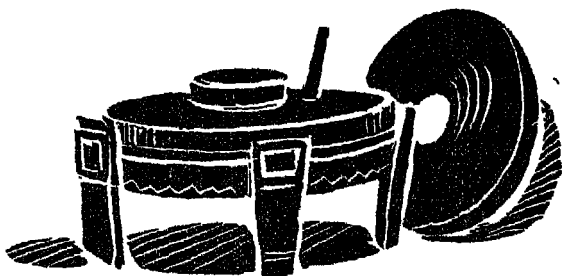
परियाँ तुम्हारा काम करेंगी। वे पहिये के सिरे को ढकेलेंगी और उसका धुरा घूमने लगेगा।"

फिर भी धनिकों ने आज तक बराबर पवन-चक्की या जल-चक्की की अपेक्षा दो पाटों की चक्कियों में पिसनहारियों द्वारा हाथ से अनाज पिसवाना ही पसन्द किया। उन्होंने दूसरे आविष्कारों की उपेक्षा की।

और जब इन आविष्कारों का यथेष्ट उपयोग नहीं किया गया तो आविष्कारकों और वैज्ञानिकों ने नये यन्त्रों के अनुसन्धान में कम ध्यान दिया। मिस्र-वासियों और यूनानियों ने यन्त्रों तथा अपने अन्य प्रयोगों की सहायता से धन की अपार राशि एकत्रित की, जैसे खेतों के सींचने और खानों के खोदने के लिए। और इन

दोनों देशों की सभ्यता का ह्रास मशीनों के प्रयोगों की अवहेलना से ही हुआ।

[३]

यह महत्त्व की बात है : जब अमीर लोग कुछ मशीनों का इस्तेमाल करके धन कमाते हैं और नये आविष्कारों का प्रयोग करने से इसलिए इन्कार कर देते हैं क्योंकि वे झंझट में नहीं पड़ना चाहते, तो परिणाम यह होता है कि मजदूरों को वही कठिन परिश्रम करते रहना पड़ता है जो नई मशीनों ने उनके लिए सुलभ करा दिया है। क्योंकि इन्सान हजारों वर्षों से नये नये औजारों का जीवन को सुखप्रद बनाने के लिए आविष्कार करता आया है, और क्योंकि इन औजारों की बदौलत ही उसने उन्नति की है, इसलिए औजार या मशीन की समस्या का सामना करना जरूरी है।

भूतकाल में धनिकों ने अक्सर प्रगति का मार्ग अवरुद्ध किया। वे देखते थे कि गुलाम और गरीब व्यक्ति सस्ते में मशीनों का काम करने के लिए खरीदे जा सकते हैं। धर्म-गुरू भी, और यह ठीक ही था, डरते थे कि इन्सान कहीं ईश्वर के काम की नक़ल करना शुरू न कर दे, अतः उन्होंने भी आविष्कारों को प्रोत्साहन नहीं दिया। गिरजाघरों के धर्माधिकारियों ने तो वैज्ञानिक प्रयोगों पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया था।

किन्तु मनुष्य मूलतः आविष्कारक प्राणी है। उसने अधिकाधिक प्रयोग करने प्रारम्भ किये। विशेषता ज्ञान और प्रकाश के उस युग में जिसे पुनरुत्थान-काल कहते हैं।

[४]

एक मुख्य प्रयोग जिसमें लोगों ने अपना हाथ डाला वह भाप की सहायता से युद्ध-वाहनों का चलाना था। सिकन्दरिया के सन्त हीरो से लेकर, जो ई० पू० प्रथम शताब्दी में हुआ, अठारहवीं शताब्दी में हुए स्कॉटलैण्ड निवासी जेम्स वाट तक कई लोगों ने

भाप का इंजिन बनाने के लिए सतत प्रयत्न किया। वाट ने १७७७ ई० में इस तरह का पहला इंजिन बनाया। तत्क्षण ही यह आविष्कार अन्य वस्तुओं के निर्माण में अत्यन्त व्यावहारिक सिद्ध हुआ, क्योंकि जिन सदियों में इस भाप के इंजिन का विकास हो रहा था लोगों की आवश्यकताएँ और उसके साथ-ही-साथ उनकी रुचियाँ भी परिवर्तित हो गई थीं। उदाहरण के लिए, अंग्रेज सामन्तों और जागीरदारों ने भूमि घेरकर अपने क़ब्जे में कर ली और बहुत से खेतों पर काम करने वाले मजदूर बेकार हो गए। इन लोगों को मैन्चेस्टर और ब्रेडफोर्ड के कारखानों में काम पर लगाया गया। यहाँ अमेरिका, भारत और अफ्रीका के उन उपनिवेशों से जिन पर साहसी अंग्रेज नाविकों और व्यवसायियों ने प्रभुता स्थापित कर ली थी, रुई लाई जाती थी। लंकाशायर के कारखानों की आवश्यकता पूरी करने के लिए जॉन के ने उड़न-ढर की (फलाई शटल) और जेम्स हार ग्रेव ने अपने 'स्पिनिंग जेनी' नामक चरखे का आविष्कार किया। कुछ समय बाद अमेरिका के ह्विटने ने रुई में से बिनौले अलग करने के लिए एक अन्य यन्त्र 'कॉटन-जिन' का आविष्कार किया। उसके बाद रिचर्ड आर्कराइट और एडमण्ड कार्टराइट ने पानी की शक्ति से चलने वाली वस्त्र बुनने की मशीनों का आविष्कार किया। वाट के इंजिन और आर्कराइट की बुनने की मशीनें, दोनों को मिलाकर साथ-साथ उपयोग में लाया जाने लगा। इस सम्मिलन ने मनुष्य के इतिहास को ही सर्वथा बदल डाला।

भाप का इंजिन बन जाने के बाद, वाट ने भाप से चलने वाला रेल का इंजिन बनाने का प्रयत्न किया। लेकिन वाट से पहले ही रिचर्ड आयर विचटिक ने एक रेल का इंजिन बना डाला जो बीस टन बोझ खींच सकता था।

भाप से चलने वाले समुद्री जहाजों की कहानी इससे भी
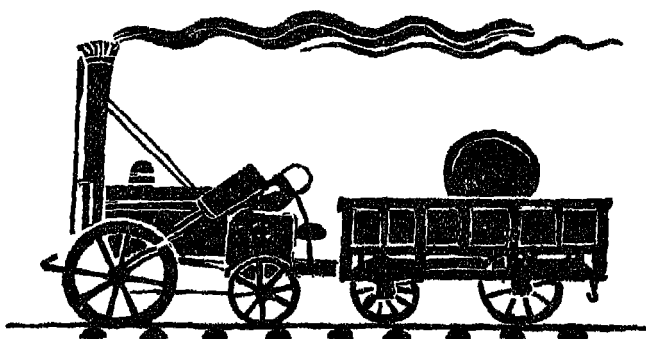
अधिक मनोरंजक है। कनेक्टिकट के जॉन फिच नामक व्यक्ति ने एक नाव बनाई जो १७८७ ई० में डेलावेयर नामक नदी में चलाई गई। एक दूसरे अमेरिकी फुल्टन नामक व्यक्ति ने फिच की नकल करके पनडुब्बी बनाने की कोशिश की। उसने पेरिस जाकर नेपोलियन को यह समझाने की कोशिश की कि पनडुब्बी की सहायता से अँग्रेजी बेड़े को किस तरह हराया जा सकता है। लेकिन नेपोलियन ने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया। अतः फुल्टन ने वापस लौटकर एक जहाजी कम्पनी की स्थापना की और न्यूयार्क राज्य के आसपास भाप से चलने वाले स्टीमर चलने लगे। फुल्टन दिन-प्रतिदिन अमीर होता गया और जॉन फिच, जिसने यन्त्र-चालित पंखों (स्क्रू प्रापेलर) से चलने वाला अपना पाँचवाँ जहाज बनाने पर अपना सारा धन खर्च कर डाला था, असफल हुआ। लोगों ने उसका मजाक उड़ाना शुरू किया और फिच ने आत्म-हत्या कर ली। लेकिन उसकी मृत्यु के बीस वर्ष बाद सैवाना नामक जहाज ने २५ दिनों में अमेरिका से लिवरपूल तक की यात्रा की। अब लोगों ने मजाक उड़ाना बन्द कर दिया। परन्तु वे फिच को भूल चुके थे और उन्होंने समझा कि भाप से चलने वाले जहाज का आविष्कार किसी और ने किया।

लगभग ६० वर्ष के बाद स्कॉटलैण्ड निवासी स्टीफेन्सन ने यात्रा करने वाले जहाज का निर्माण किया। यही आधुनिक रेलों का जन्मदाता था।

पिछले एक अध्याय में हमने गुफा-वासी के अग्नि-प्रज्वलन से लेकर बिजली के आविष्कार तक की कहानी बताई थी। इस आविष्कार के फलस्वरूप तार, टेलिफोन और उसके बाद बिजली के इंजिन का निर्माण हुआ।

[५]

मशीनों का प्रादुर्भाव जहाँ एक ओर मानवता के लिए कल्याण-प्रद था, वहाँ दूसरी ओर अभिशाप लिये हुए भी था। छोटे-छोटे लोग जो अपने औजारों से जूते, लकड़ी के सन्दूक और बरतन वगैरह बनाते थे अब क्षण-मात्र में हजारों की संख्या में चीजें उत्पन्न करने वाली मशीनों की तुलना में नहीं टिक सके। मशीनें महँगी थीं, और ये कारीगर धनी नहीं थे। अतः उनके लिए बड़ी-बड़ी मशीनें खरीदना सम्भव न था। इस कारण उन्होंने उसी तरह धनिकों द्वारा संचालित बड़े-बड़े कारखानों में मजदूरी करनी प्रारम्भ की जिस तरह बेकार भूमिहीन कृषक मजदूरों ने। कुछ बेकार कारीगरों ने सोचा कि मशीनें उनकी दुश्मन हैं और मशीनें तोड़ने लगे। इंग्लैण्ड में इन विद्रोहियों को जिन्हें 'ल्यूडाइट्स' कहते हैं, कुचल दिया गया और लोग अपनी क़िस्मत से समझौता करके बड़े-बड़े कारखानेदारों की नौकरी करने लगे। इससे उन्हें पहले से कुछ अधिक पैसे मिल जाते थे। वे गन्दगी और धुएँ से भरे बड़े नगरों में रहने लगे और अपना वह हस्त-कौशल भूल गए जिसकी बदौलत इन्सान हमेशा से सर्वोत्तम वस्तुओं का निर्माण करता आया है।

कारखानों के क्षेत्रों में लोगों की स्थिति बहुत बुरी थी। अतः मजदूर-वर्ग-मजदूर यूनियनों में संगठित होने लगा, लेकिन मालिकों

को ये मजदूर-यूनियनें सहन न हुईं और उन्होंने अपने मित्र पार्लमेण्ट के सदस्यों से इन संगठनों के विरुद्ध कानून पास करवाए।

लेकिन शीघ्र ही लोगों ने अपने अधिकारों पर जोर देना और स्वतन्त्र होने के अधिकार की माँग करना प्रारम्भ किया। लुई सोलहवें के काल में हुए टरगॉट नामक एक फ्राँसीसी ने 'आर्थिक-स्वतन्त्रता' की चर्चा छेड़ी और लिखा, "लोगों को वे जो चाहें करने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए।" इंग्लैण्ड में एडम स्मिथ ने स्व-तन्त्रता और व्यापार के सहज अधिकारों की बातें कीं। कई लोगों ने 'जनता के घोषणा-पत्र' लिखकर अपने देश की सरकार में अपने प्रतिनिधित्व और आवाज की माँग की। स्वभावतः मिल मालिक, जिनका सरकार में जोर था, मजदूरों को शक्तिशाली नहीं बनने देना चाहते थे और यह आन्दोलन जिसे 'चार्टिस्ट' आन्दो-लन कहते हैं बुरी तरह दबा दिया गया। धनी मिल-मालिकों की जीत हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि और अधिक वस्तुओं का उत्पादन हुआ। लेकिन इन वस्तुओं का उत्पादन करने वाले करोड़ों व्यक्ति गन्दी मजदूर-बस्तियों में अत्यन्त भयावह स्थिति में जीवन के दिन काटते थे।

भारत को जीतने के बाद अंग्रेजों ने हमारे देश में भी मशीनों का प्रचलन शुरू किया। किन्तु अंग्रेज भारतीय मिलों में उत्पादित वस्तुओं से प्रतियोगिता नहीं चाहते थे, अतः भारतीय उद्योग विकसित न हो सके और हमारा देश पिछड़ा रहा। इंग्लैण्ड में तो मजदूरों की हालत में बड़ा सुधार हुआ, लेकिन हमारे मजदूर आज भी उसी तरह छोटी-छोटी गन्दी बस्तियों में जो इन्सान के रहने लायक भी नहीं हैं, जीवन-यापन कर रहे हैं, जिस तरह सौ वर्ष पूर्व इंग्लैण्ड के मजदूर करते थे।

आज यह स्पष्ट है कि मशीनी सभ्यता ने सस्ते दामों पर हमारे

लिए अनेकानेक वस्तुएँ सुलभ कर दी हैं, लेकिन इसने हमें वह सुख नहीं दिया जिसकी लोगों ने उस समय आशा की थी जब कारखानों की चिमनियाँ धुँआ निकालने लगीं, रेलें दौड़ने लगीं और समुद्रों में जहाज़ चलने लगे।

बहुत से साहसी व्यक्तियों ने मज़दूरों के बुनियादी अधिकारों के लिए संघर्ष किया। उदाहरणार्थ कारखानों में काम के घण्टे सीमित कराने में लम्बा समय लगा, क्योंकि मालिक इसके विरोधी थे। पाँच-छः वर्ष के बच्चों से कारखानों में काम लिये जाने पर कानूनी प्रतिबन्ध लगाने के पूर्व भी बहुत बहस हुई। अमेरिका में इस-से मिलता-जुलता संघर्ष 'नीग्रो' गुलामों के बारे में था जिनसे उनके रंग के कारण बहुत बुरा व्यवहार किया जाता था और उन्हें काम नहीं दिया जाता था।

दक्षिणी अमेरिका के धनिक गोरे ज़मींदार जानते थे कि वे बिना गुलामों की मदद के रुई पैदा नहीं कर सकते। लेकिन उत्तर के कुछ भले लोगों ने स्वातंत्र्य-घोषणा में स्वीकृत किये गए इस सिद्धान्त के अनुसार कि "सभी व्यक्तियों को 'स्वतन्त्र' और समान मानकर एक-सा व्यवहार किया जाय," गुलामी की प्रथा समाप्त

करने की कोशिश की। इसके फलस्वरूप उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका में घोर गृह युद्ध हुआ। गुलामी के विरुद्ध इस आन्दोलन का नेतृत्व महान् अमेरिकी नेता अब्राहम लिंकन ने किया। बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करने के बाद लिंकन की विजय हुई और उन्होंने १८६३ ई० में मुक्ति का घोषणा-पत्र प्रकाशित किया, जिसके अनुसार सभी गुलाम स्वतन्त्र कर दिये गए। कुछ वर्ष बाद एक पागल व्यक्ति ने उनकी हत्या कर डाली। लेकिन उनका काम जारी रहा।

यूरोप के मज़दूरों के घोर संघर्ष के बावजूद कई पीढ़ियों तक उनके अधिकारों को कोई मान्यता नहीं मिली। अक्सर इन संघर्षों का नेतृत्व जागृत मिल मालिक स्वयं करते थे। उदाहरण के लिए राबर्ट ओवन ने, जो कई सूती कपड़े की मिलों का स्वामी था एक 'समाजवादी समुदाय' की स्थापना की। लुई ब्लैंक नामक एक फ्रान्सीसी लेखक ने एक 'सामाजिक यंत्रालय' स्थापित करने की कोशिश की। दार्शनिक कार्ल मार्क्स और मिल मालिक फ्रेडरिक एंगेल्स ने उन कारणों का अध्ययन करने का प्रयत्न किया, जिनके फलस्वरूप मशीनी सभ्यता मनुष्य मात्र को सुख-शान्ति देने में असफल हुई। मार्क्स ने महसूस किया कि स्थिति खराब होने का कारण यही था कि पूँजीपति मज़दूरों को गुलाम मज़दूर के रूप में बेच व खरीद सकते थे अतः १८६४ ई० में उन्होंने मज़दूरी करने वालों की पहली अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का संगठन किया और १८६७ ई० में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'कैपिटल' का प्रथम भाग प्रकाशित किया।

मार्क्स ने कहा कि मशीन-युग के कारण समाज में एक नये वर्ग (पूँजीपति वर्ग) का प्रादुर्भाव हुआ है। ये पूँजीपति अपनी बचत की रकम नये यन्त्र खरीदने में खर्च करते हैं। मज़दूर इन औजारों से और अधिक धन उपार्जित कर देते हैं।

इस तरह धनी दिन-प्रतिदिन और धनी होते जाते हैं और गरीब मज़दूर दिन-प्रतिदिन ग़रीब होते जाते हैं। अतः उन्होंने सभी देशों के मज़दूरों को एक होकर अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने की सलाह दी।

मार्क्स और अन्य समाजवादियों के विचारों ने जोर पकड़ा। फलतः बाद में इंग्लैण्ड में मज़दूर-दल अपनी प्रतिनिधि-सरकार बनाने में सफल हुआ। रूस में, प्रथम विश्व-युद्ध के समय, समाजवादी और कम्युनिस्टों ने सफल क्रान्ति करके नई सोवियत सरकार की स्थापना की। इसे पूंजीपतियों और ज़मींदारों की विरोधी शोषित-वर्ग की तानाशाही के नाम से पुकारा जाता है।

हमारे युग ने समाज के दो वर्गों, समाजवादियों और पूँजी-वादियों के बीच का संघर्ष झेला है। प्रत्येक स्थान पर लोग

सोच रहे हैं कि उन अनगिनत लोगों के रहन-सहन का स्तर कैसे सुधारा जाय जो अपनी मज़दूरी से धन का सम्पूर्ण उत्पादन करते हैं। अणु-शक्ति जैसे वैज्ञानिक अन्वेषणों का प्रयोग यदि बमों के उत्पादन के लिए न किया जाय तो हमें इसकी आशा बँध सकती थी, क्योंकि यदि हम इसका और अन्य शक्तियों का उपयोग अधिकाधिक खाद्यान्नों और अन्य वस्तुओं के उत्पादन में करते तो 'बहुतायत का युग' आ जाता।

लेकिन इन्सान के लिए यह समझ लेना आवश्यक है कि वह मशीन का स्वामी है, उसका गुलाम नहीं। तभी वह मशीनों के कारण फैली समस्त बुराइयों पर नियन्त्रण करके मानव-मात्र की सुख-समृद्धि में वृद्धि कर सकेगा। हमें अंग्रेज़-मनीषी जेरमी-बेन्थम के इस विद्वत्तापूर्ण कथन को याद रखना चाहिए : "दूसरों को सुखी बनाना ही सुखी बनने का मार्ग है और दूसरों को सुखी बनाने का मार्ग उन्हें अपने प्रेम का आभास देना है। उन्हें अपने प्रेम का आभास देने का मार्ग ही वास्तव में उनसे प्रेम करना है।"

दसवाँ अध्याय

एक था राजा

[१]

इन्सान की कहानी बहुत लम्बी है और उसके साथ-ही-साथ और बहुत सी कहानियाँ जुड़ी हुई हैं। उस सिलसिले की कुछ कहानियाँ इस पुस्तक में लिखी जा चुकी हैं। किन्तु मनुष्य ने दूसरे मनुष्य के साथ मिल-जुलकर रहना कैसे सीखा, इसकी सबसे महत्त्वपूर्ण कहानी अभी बाकी है। इसे अन्त में कहने के लिए मैंने इसलिए रख छोड़ा था, क्योंकि मेरा विश्वास है कि यदि हम इस कहानी से कुछ शिक्षा ग्रहण करें तो हमारी मानव-जाति युग-युग तक जीवित रह सकती है, नहीं तो हम निस्सन्देह नष्ट हो जायँगे।

हम लोगों ने देखा कि किस तरह घने जंगलों के अँधेरे में रहने वाले आदिपूर्वजों की स्थिति पशुओं से शायद ही कुछ अच्छी थी। इस बात का हमें पता नहीं कि अपने आसपास के इन खतरों के बीच में रहने वाला इन्सान कैसे सुरक्षित बचा रहा। लेकिन बन्दर की शक्ल के इन्सान से आज के इन्सान तक के शारीरिक विकास में भी हम उन गुणों को देख सकते हैं जिसके कारण उसे आज के इन्सान का स्वरूप प्राप्त करने में सहायता मिली है।

इस संसार का हमारा ज्ञान सीमित है। बहुत कम वस्तुओं के बारे में ही हम निश्चित रूप से कुछ कह सकते हैं। उन्हीं में से एक यह है—विकास एक ध्रुव सत्य है, यद्यपि इसका मार्ग सरल और सुगम नहीं। वास्तव में इतिहास का मार्ग सपाट मैदान में बहने वाली अबाध धारा के मार्ग की तरह सीधा और सरल नहीं। यह बीहड़ वनों और ऊँची-नीची घाटियों से

होकर जाता है। फिर यह टेढ़े-मेढ़े रास्तों से होता हुआ पुनः प्रकट होता है। फिर भी सदैव यह मार्ग उन्नति के शिखर की ओर बढ़ रहा है। इसकी पहुँच एक निश्चित सीमा तक होती है। फिर वह उस ऊँचाई से एक गड्ढे में स्थिर हो जाता है, यह पुनः किसी अन्य शिखर की ओर अग्रसर होता है, क्योंकि प्रत्येक शिखर क्षितिज पर के किसी उच्चतर शिखर या श्रेणी का रहस्य इसे बतलाता है।

उपरोक्त कथन की सत्यता हम इस परिवर्तन में देख सकते हैं कि भोजन की तलाश में भटकने वाले आदिम-मनुष्य कैसे झोंपड़ियों में बस गए और आसपास की भूमि पर अन्न उत्पन्न करने लगे।

इसी भौतिक परिवर्तन के साथ-साथ हम एक मनुष्य में अन्य मनुष्यों के प्रति जो व्यवहार था उसमें मानसिक परिवर्तन के लक्षण भी देख सकते हैं। ऐसी अवस्था में जानवरों का शिकार या भोजन एकत्र करने की होड़ में दूसरे मनुष्य उनको शत्रु प्रतीत होते, किन्तु अब वे ही मित्र दिखाई पड़ने लगे, क्योंकि अब उन्होंने एक साथ मिलकर फसल उत्पन्न की।

[२]

भारत, मिस्र, रोम और चीन इन सभी प्राचीन सभ्यताओं में जहाँ मनुष्य ने छोटे-छोटे गाँवों में रहना प्रारम्भ कर दिया था, परस्पर अपनी कठिनाइयों और दुखों को एक-दूसरे से कहना भी शुरू किया और दूसरों के सुखों में आनन्द का अनुभव करने लगे। प्राचीन काल में ही उन्होंने एक-दूसरे की सहायता करना आरम्भ कर दिया। कुछ लोग अन्न उत्पन्न करते, अन्य लोग बरतन बनाते या कपड़ा बुनते अथवा लकड़ी का सामान बनाते या अपने गाँव वालों की ओर से रक्षा के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते। अन्न पैदा करने वाले किसान जुलाहों से कपड़ा लेने के बदले में

उन्हें कुछ अन्न देते। वे कुछ अनाज बढ़ई को देते जो उनके रथों को बनाता और उनकी मरम्मत करता था। ईश्वर से प्रार्थना करने के बदले में वे पुरोहितों या पादरियों को भेंट देते थे। उनके पास पर्याप्त भूमि थी। लोग कठिन परिश्रम करते थे और खेती की उपज के बँटवारे में कोई कठिनाई नहीं होती थी अथवा यदि होती भी तो नाम-मात्र के लिए।

बाद में जब वर्षा समय से नहीं हुई अथवा उन पर जंगली जानवरों ने आक्रमण किया तो उन्हें दूसरे प्रदेशों की ओर जाना पड़ा और यह पहले-जैसा उपयोगी प्रमाणित नहीं हुआ। और शायद इस सम्बन्ध में कठिनाइयाँ उत्पन्न हुईं कि अच्छी भूमि पर किसका अधिकार हो और अपेक्षाकृत कम-उपजाऊ भूमि किसके हिस्से पड़े। ऐसा प्रतीत होता है कि तब वे किसी स्थान पर एकत्र हुए और इस समस्या तथा अन्य प्रश्नों को हल करने के लिए

उन्होंने गाँव के सबसे बूढ़े और बुद्धिमान् व्यक्ति को चुना। प्राचीन काल में हमारे देश में पाँच अनुभवी वृद्धों या पंचों को चुनने की प्रथा थी। इसी प्रथा से पंचायत का निर्माण हुआ।

हर प्रकार के झगड़ों का निपटारा पंचायत द्वारा होता था। यदि किसी परिवार के पास पर्याप्त जमीन न होती तो उसे पंचायत अतिरिक्त भूमि देती। यदि कोई कुम्हार सुस्ती दिखलाता और किसी खास किसान को घड़े न देता तो पंचायत उसे काम करने और आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए कहती। भूमि अथवा चरागाहों पर किसी एक का स्वामित्व न होकर प्रत्येक का अधिकार होता था। अतः प्रत्येक व्यक्ति के अधिकारों का सम्मान होता था। व्यक्ति के अधिकारों की उचित रक्षा होती है अथवा नहीं, इसकी देख भाल करने के अलावा पंचायत खेतों में पानी पहुँचाने तथा ऊबड़-खाबड़, खराब रास्तों की मरम्मत करने का कार्य भी सँभालती थी।

[३]

एक दिन अचानक कुछ अन्य खूँखार घुड़सवारों के दलों ने इस छोटे से गाँव की सुख-निद्रा भंग कर दी। वे पशुओं के झुण्डों को खदेड़ते हुए आए। उन्होंने सारा वातावरण अशान्त और कोलाहलपूर्ण कर डाला। उनकी भाषा भी अजीब थी, जिसे ये ग्रामीण न समझ सके। उनके जंगली बरताव और चाल-ढाल से यह पता चला कि वे कोई अच्छा कार्य करने के लिए न निकले थे। यदि किसान उनके लिए उपजाऊ ज़मीन छोड़कर अन्यत्र न भाग जाते तो वे उनसे लड़ने के लिए तैयार थे। घुड़-सवारों के इस दल का नेता एक व्यक्ति था जो दूसरों की अपेक्षा देखने में अधिक हृष्ट-पुष्ट था। वह दल का सरदार था। उसकी आज्ञा का पालन होता था। गाँव के उन पाँच वृद्धों और सीधे-सादे शान्तिप्रिय ग्रामीणों के पास लुटेरों का मुकाबला करने के लिए उनके जैसे हथियार न थे। गाँव वालों ने आत्म-समर्पण कर दिया और उस सरदार तथा उसके घुड़सवारों ने गाँव का शासन सँभाला। इसी प्रकार सबसे पहले राजा

का अस्तित्व हुआ।

इन छोटे-छोटे सरदारों या राजाओं ने अपने दल या अपने सिपाहियों की शक्ति के मुताबिक एक, दो या सौ-सौ गाँवों पर शासन किया। इस काल में एकमात्र शारीरिक शक्ति या पशुबल ही पर्याप्त था। यदि किसी राजा के यहाँ कोई शक्तिशाली वीर होता जिसे वह अन्य गाँव वालों को परास्त करने के लिए भेज सकता तो राजा इस प्रकार अपने कब्जे में और भी अधिक भूमि कर लेता। इस तरह वह शक्तिशाली हो गया और उसने एक दरबार की स्थापना की तथा कर्मचारियों का चुनाव किया जिनका कार्य उसकी आज्ञाओं का पालन करना था। अपने अधिकृत छोटे से राज्य के लोगों से उसने अनाज-संग्रह किया और एक कुशल सेना तैयार की। फिर यदि वह अपने पड़ोसी राजाओं से अधिक शक्तिशाली होता तो वह उन अन्य राजाओं के प्रदेश में 'अश्वमेध' घोड़ा भेजकर उन्हें युद्ध के लिए चुनौती देता। किसी अन्य राजा द्वारा घोड़े के रोके जाने पर चुनौती स्वीकार मानी जाती और दोनों राजाओं की सेना में युद्ध होता। जो फौज अधिकाधिक विपक्षियों को मार गिराती और दुश्मनों के हथियारों को नष्ट करती, उसकी जीत समझी जाती। उसका राजा अन्य राजा की ज़मीन को अपने राज्य में मिला लेता। इस प्रकार विशाल सेना वाले राजा ने बहुत-से छोटे-छोटे और निर्बल राजाओं को हराकर अपने अधीन कर लिया और वह राजाओं का भी राजा बन बैठा। वह महाराजा या शाहंशाह के नाम से पुकारा जाने लगा।

हमारे देश में हजारों वर्षों तक इसी प्रकार के राजाओं का युग रहा। किन्तु सरकार का वह स्वरूप, जिसका उन्होंने निर्माण किया था, बहुत-कुछ उसी ढंग का रहा जिस तरह कि वह ग्रामवासियों के लोकतन्त्र शासन-काल में था, क्योंकि जब राजाओं ने इन

गाँवों को जीता तो उन्होंने भूमि पर अधिकार जमाना प्रारम्भ नहीं किया, यद्यपि भूमि पर उनके कुछ अधिकार अवश्य थे। उदाहरणार्थ वे अपने खज़ाने के लिए प्रत्येक किसान से उसकी उपज में से कुछ अनाज कर के रूप में लेते थे। वे अपने घोड़ों के लिए चरागाहों से घास और शिकार करने के लिए कुछ जंगल सुरक्षित रख छोड़ते थे। इसके बदले में वे जंगली जानवरों तथा अन्य शत्रुओं से सेना की सहायता से गाँव वालों की रक्षा करते थे जिनको वे गाँव वालों से ही इकट्ठा किया हुआ अनाज खाने को देते थे। वे कुओं और खाइयों की देखभाल और सड़कों की मरम्मत करवाते थे। ग्रामीणों से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध शायद ही स्थापित हो पाता था, किन्तु वह कर-संग्रह या कर वसूल करने वाले के माध्यम से ही रहा। यही व्यक्ति हर फसल के अवसर पर राजा के भाग का अनाज ले जाता। अनाज-संग्रह कर लेने के बाद वह उसे ऊँटों पर लादकर किसी बड़े गाँव या नगर को ले जाता। राजा ने ऊँची-ऊँची दीवारों से घिरा हुआ मकान यहाँ बनवाया जिसे किले के नाम से पुकारते हैं। कर-संग्रहक गाँवों के समाचार भी राज्य में पहुँचाता था। सम्भवतः कुछ ग्रामीण जिन्हें अपनी फरियादें सुनानी होतीं इसी कर-संग्रहक के माध्यम से अपनी बात राजा तक पहुँचाते। उसे वह राजा के सम्मुख रखता, जो अपने बहादुर सिपाहियों और सभासद विद्वानों के बीच बैठा करता था। राजा ग्रामीणों की फरियाद को बड़े ध्यान से सुनता और अपने सभासदों की राय से वह यह निश्चित करता कि किस मामले में क्या किया जाय। सम्भवतः शिकायत के पात्र, प्रतिवादी या मुद्दालेह को बुलाया जाता था। इसके लिए सिपाही भेजे जाते, वे उसे पकड़ते और राजा के पास ले आते। तब वादी और प्रति-वादी दोनों को अपनी-अपनी बात कहने का अवसर दिया जाता। इसके बाद राजा अपनी न्याय-बुद्धि से सभासदों से राय लेकर

अपना निर्णय देता।

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस प्रकार का सीधा-सादा और समुचित ढंग का न्याय भारत में अठारहवीं शताब्दी तक प्रचलित रहा और भारतीय राज्यों-रजवाड़ों में तो जहाँ राजा-महाराजाओं का शासन था पिछले कुछ वर्षों तक भी।

ये राजा अथवा महाराजा सर्वशक्तिमान थे, क्योंकि इनके पास सेना, सिपाहियों की शक्ति, सभासद् और अन्य नौकर थे। यदि किसी अन्य शक्तिशाली राजा ने और अधिक बड़ी व शक्तिशाली सेना के सहारे उनका सिंहासन छीन लिया तो यह नया राजा उसकी शक्ति को भी प्राप्त कर लेता था। सेना की शक्ति, प्राणघातक हथियारों से सुसज्जित सिपाहियों की शक्ति—किसी भी प्रकार से शक्ति बड़ी ही महत्त्वपूर्ण ताकत थी। एक कहावत है: "जिसकी लाठी उसकी भैंस।"

[४]

पन्द्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में आने वाले यूरोपीय आक्रमणकारियों के अपने-अपने देश में उनके राजा थे। और जब बरतानिया के लोगों ने भारत पर विजय प्राप्त की तो इंग्लैण्ड के राजा भारत के सम्राट् बन गए। शक्ति अथवा अधिक बलशाली का सिद्धान्त यहाँ भी लागू हुआ।

किन्तु ब्रिटेनवासियों के इस देश में पैर रखने के साथ-ही-साथ हमें यूरोप में होने वाली कुछ घटनाओं का पता चला जो वहाँ पहले घट चुकी थीं और जो साम्राज्य की शक्ति के सारे सिद्धान्त को एक नया रूप दे रही थीं।

ग्रेट ब्रिटेन में भी आक्रमणों के माध्यम से ही और जगहों की तरह राज्य का सिद्धान्त विकसित हुआ तथा राजा ने अपने कुशल सिपाहियों और सरदारों को अपना सभासद् नियुक्त किया।

भारतीय राजाओं और अंग्रेज राजाओं में केवल यही अन्तर

था कि भूमि के प्रति भारतीय राजाओं के थोड़े ही अधिकार थे (जैसे वे अपनी सेनाओं की मदद से ग्रामीणों की रक्षा का भार वहन करते जिसके बदले में वे कर लेते थे) जबकि अंग्रेज राजा पृथ्वी पर ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में 'ईश्वरप्रदत्त अधिकार' के सिद्धान्त के मुताबिक भूमि के अधिपति या स्वामी थे। वे जब अपने सभासदों को भूमि देते तो थे अमीर सरदार भी भूमि के स्वामी बन गए। ग्रामीण-जन उनकी भूमि में आसामी या उनकी प्रजा बनकर परिश्रम करते थे।

कुछ काल के पश्चात् ये सरदार, नवाब या 'बैरन' कहे जाने लगे जिनके पास काफी जमीन हो गई और उनकी शक्ति भी उसी प्रकार बहुत बढ़ गई। किंग जॉन नामक राजा के शासन काल में ये नवाब एक जगह सभा करने के लिए इकट्ठे हुए और उन्होंने 'मैग्ना कार्टा' नामक कुछ विशेष अधिकारों के पत्रक पर राजा के हस्ताक्षर करवाए। इस पत्रक ने राजा की शक्ति को सीमित कर दिया और देश की राष्ट्रीय सरकार में सरदारों को अच्छा प्रतिनिधित्व प्रदान किया।

बाद में अंग्रेजों के इतिहास में राजा जॉन के ही समय के नवाबों या 'बैरनों' के उत्तराधिकारियों ने फिर से सभा की और राजा की शक्ति व उसके अधिकारों को और भी अधिक सीमित कर दिया। इस सम्पूर्ण काल की प्रजा या आसामी बिलकुल गुलामों की तरह पिसते थे।

इसके और भी बाद छोटे-छोटे सरदारों और व्यापारियों ने राजा के 'ईश्वरीय अधिकार' के सिद्धान्त के विरुद्ध विद्रोह किया और उन्होंने ऑलिवर क्रामवेल के नेतृत्व में अपने लोकतन्त्र-शासन की स्थापना की। वास्तव में पुराने 'बैरन' या नवाब अँग्रेज् राजवंश के उत्तराधिकारियों को पुनः शक्ति दे गए और

इलैंगएड में फिर से राजा होने लगे। किन्तु एक सभा निरन्तर विकसित हुई जिसे 'पार्लमेण्ट' कहते हैं और जिसमें व्यापारियों के प्रतिनिधि होते थे। किन्तु राजा की शक्ति बराबर सीमित रही।

पार्लमेण्ट पर व्यापारियों का यह आधिपत्य आगे चलकर और ढीला किया गया। उन विद्वानों ने जिन्होंने यूनान और रोम के इतिहास तथा यूरोप महाद्वीप में होने वाली घटनाओं से कुछ ज्ञान उपार्जित किया था, इन संकुचित पिछड़े हुए धनी लोगों के विरुद्ध ज़ोरदार शब्दों में अपने उग्र विचार लिपिबद्ध किये।

[५]

इन सबमें बड़ी और महत्त्वपूर्ण घटना फ्रान्स की राज्य क्रान्ति थी। क्रॉमवेल की क्रान्ति से इंग्लैंड में राजाओं के दैवी या ईश्वरप्रदत्त अधिकारों के सिद्धान्त के स्थान पर 'पार्लमेण्ट' के अधिकारों की प्रतिस्थापना हुई। परन्तु फ्रान्स में राजाओं द्वारा दैवी अधिकारों का उपयोग अभी तक उसी तरह होता था जिस तरह वे करते आए थे। फ्रान्स के राजा-गण यूरोप के अन्य राजाओं को आपस में लड़ाकर अभी भी शक्तिशाली बने हुए थे। उन्होंने व्यापारियों को धनोपार्जन करने की पूरी छूट दी और दूर-दूर देशों से व्यापार करने में सहायता पहुँचाई।

यूरोप और विशेषतः इंग्लैण्ड से बहुत से छोटे-छोटे व्यापारी और गरीब किसान हाल में खोजे हुए नये महाद्वीप, अमेरिका में बसने के लिए पहुँच गए थे। लेकिन इस नये देश का शासन अँग्रेज़ राजाओं के अधीन था और यहाँ के लोग अँग्रेज़ राजाओं के कठोर शासन को पसन्द नहीं करते थे, अतः उन्होंने बराबर उनका तीव्र विरोध किया और अठारहवीं शताब्दी के अन्त में उन्होंने अँग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह खड़ा करके अपना लोकतन्त्र स्थापित किया। प्रत्येक व्यक्ति और उसके अधिकारों की समुचित रक्षा के सिद्धान्त पर निर्भर अमेरिकी स्वतन्त्रता की घोषणा ने सारी दुनिया में एक नई क्रान्ति का संचार किया।

[६]

लगभग इसी समय फ्रान्स में वॉल्टेयर और मॉण्टेस्क्यू नामक दो विद्वान् इसका ज़ोरदार प्रचार कर रहे थे कि सभी मनुष्यों को स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। वे धार्मिक व राजनीतिक अत्याचारों के कट्टर विरोधी थे। स्विटज़रलैंड निवासी रूसो ने लिखा कि आदि-कालीन प्राचीन समाज में मनुष्य अधिक सुखी था। उसने राजतन्त्र के सिद्धान्त का खण्डन भी किया। डिडेरॉट, डी एलेम्बर्ट,

टरगॉट तथा अन्य लेखकों ने 'एन्साइक्लोपीडिया' नामक एक कोष का निर्माण प्रारम्भ किया जिसमें समस्त नये विचारों, नई कला, नये विज्ञान और नये ज्ञान को पंक्ति-बद्ध किया गया। फ्रान्स के लोग इस तरह के कार्य का स्वागत करने के लिए खुशी से लालायित थे। इन नये विचारों की अग्नि सारे फ्रान्स में फैल गई। चारों ओर अशान्ति का वातावरण छा गया। १७८६ ई० और १७६१ के बीच सर्वप्रथम राजा के अधिकारों को सीमित करने के प्रयत्न हुए, लेकिन सफलता न मिली। तब अगले सात वर्षों तक निर्वाचन के द्वारा जनतन्त्रात्मक सरकार के ढंग पर लोकतन्त्र स्थापित हुआ। भिन्न-भिन्न तरीकों से राजा ने अपने पद की रक्षा करने का प्रयत्न किया, क्योंकि खजाना खाली हो गया था और देश पर अत्यधिक ऋण था। किसी भी प्रकार के नये कर देना लोगों को मंजूर न था। उनका नारा था: "प्रतिनिधित्व के बिना कोई कर नहीं लगाया जा सकता।" इस प्रकार फ्रान्स की जनता मज़बूत होने लगी। लेकिन राजा अपनी एक-छत्र सत्ता को नहीं छोड़ सकता था। अतः सोलहवें लुई और उसकी रानी ने युद्ध प्रारम्भ किया। राजा की निरंकुश शक्ति का नाश करने के लिए पेरिस की जनता ने बेस्टाइल नामक जेल पर धावा बोल दिया।

'नेशनल असेम्बली' नामक राष्ट्रीय सभा की बैठक ४ अगस्त को हुई। उसमें शासक की सभी सुविधाओं को नष्ट कर देने का निश्चय किया गया। इसी अगस्त की २७वीं तारीख के दिन मनुष्य के अधिकारों का घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ जो फ्रान्स के संविधान के पहले ही मुद्रित हो चुका था।

यूरोप के अपने मित्र-राजाओं से सहायता पाने के लिए लुई ने गठबन्धन करने का प्रयत्न किया।

फ्रांस का पहला विधान सितम्बर, १७९१ ई० में राष्ट्रीय सभा या नेशनल असेम्बली में स्वीकृत हुआ और १ अक्तूबर १७९१ के दिन नव-निर्वाचित व्यवस्थापिका सभा की बैठक हुई।

अब प्रशा के राजा और आस्ट्रिया के शासक ने लुई की सहायता के लिए कदम उठाया और फ्रान्स पर चढ़ाई करके उसे मुक्त करने के लिए फौज भेजी।

'ट्यूलरीज' नामक बाग में स्थित राजा के महल पर पेरिस की जनता ने धावा बोल दिया। राजा के सभी अंग-रक्षकों को मार गिराया गया, किंतु राजा सभा-भवन के बड़े कक्ष के मार्ग से भागा, किन्तु यहाँ वह पकड़कर अपने राजपद से स्थगित किया गया और बन्दी बना लिया गया।

आस्ट्रिया और प्रशा की फौजें फ्रान्स की ओर बढ़ती चली आ रही थीं, फ्रान्स की जनता क्रोध से पागल हो गई थी और २१ सितम्बर १७९२ ई० के दिन हुई राष्ट्रीय सभा ने राजा को राष्ट्रद्रोही कहकर धिक्कारा और ३६० के विरुद्ध ३६१ वोटों के जनमत द्वारा उसे अपराधी घोषित किया। २१ जनवरी १७९३ ई० को लुई को बन्दी बनाकर 'गिलोटीन'[1] के लिए ले गए।

---

1. सिर काटने का उस समय यन्त्र

'जैकोबियन' कहे जाने वाले उग्र विचार के लोगों में 'गिरोण्डिस्ट' नामक शान्तिप्रिय लोगों के प्रति दुश्मनी जाग गई और कई 'गिरोण्डिस्ट' लोगों को प्राणदण्ड दिया गया अथवा उन्होंने आत्महत्या कर ली।

सन् १७९३ ई० के अक्तूबर मास में 'जैकोबियनों' ने संविधान को स्थगित कर दिया और डाण्टन और रॉबेस्पियर-जैसे क्रान्तिकारियों के नेतृत्व में जन-सुरक्षा करने वाली एक छोटी कमेटी या संस्था ने शासन के सारे अधिकारों को हस्तगत कर लिया। इस संस्था ने ईसाई-धर्म और पुराने कैलैण्डर की समाप्ति कर दी। किन्तु अब उस भयानक विनाशकारी शासन का प्रारम्भ हुआ जिसमें प्रतिदिन ७० से लेकर ८० मनुष्य तक कत्ल किये जाते थे, चाहे वे अच्छे होते अथवा बुरे।

राष्ट्रीय-सभा के सदस्य अन्त में रॉबेस्पियर के दुश्मन बन गए और वे उसे पकड़कर 'गिलोटीन' करने ले गए। सन् १७९४ की २७ जुलाई को इस खौफनाक शासन का अन्त हुआ और पेरिस ने सुख-शान्ति के दिन देखे।

फ्रान्स के ऐसे अशान्त वातावरण को देखते हुए यह आवश्यक हो गया कि देश का शासन तब तक कुछ शक्तिशाली लोगों के हाथों में रहे जब तक कि जन-क्रान्ति के विरोधी कुचले नहीं जाते। अतः चार वर्ष तक के काल में जब कि फ्रान्स की सेनाएँ विदेशियों से लड़ने में लगी रहीं, फ्रान्स का शासन-सूत्र पाँच संचालकों द्वारा सम्भाला गया। बाद में नेपोलियन बोनापार्ट नामक तरुण सेनापति को सारे अधिकार सौंप दिये गए जो सन् १७९९ में फ्रान्स का सर्वप्रथम कॉन्सल या राज-प्रतिनिधि बनाया गया।

[७]

अगले पन्द्रह वर्षों में रण-श्रेष्ठ वीर नेपोलियन ने फ्रान्स की सेना को शक्तिशाली बनाया। उसके हृदय में यूरोप के

समस्त देशों को अधिकृत कर एक ही शासन-सूत्र में पिरोने की इच्छा जागी।

१७८९ ई० और १८०४ ई० के बीच नेपोलियन फ्रान्स के जन-क्रान्ति-सम्बन्धी विचारों के प्रति काफ़ी वफ़ादार रहा। 'स्वतन्त्रता, भाई-चारा और समानता' ही उसकी सेना के नारे थे। १८०४ में उसने अपने-आपको फ्रान्स का महाराजा घोषित कर दिया। इसके साथ ही उसने ग़रीबों, और दलितों के प्रति अपनी पूर्व-परिचित सहानुभूति का भाव भुला दिया और वह अन्य देशों की विजय के लिए निकला।
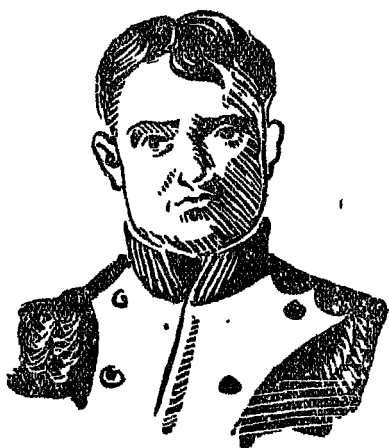
मिस्र के रास्ते उसने भारत पर आक्रमण करने का विचार किया। परन्तु अँग्रेजी जल-सेना की प्रबल शक्ति के कारण उसे नील नदी से वापिस लौट जाना पड़ा। इसके पश्चात् स्पेन के दक्षिणी-पश्चिमी समुद्र-तट पर 'ट्रैफालार' नामक प्रायद्वीप में नेलसन नामक अँग्रेज जल-सेना-नायक ने नेपोलियन ने बेड़े को नष्ट कर डाला। यदि महत्त्वाकांक्षा ने नेपोलियन को अन्धा न कर दिया होता तो वह अपने को बचाने में समर्थ होता। किन्तु यूरोप के छोटे-मोटे देशों पर हमला करने के पश्चात् उसने रूस पर हमला कर दिया। अपनी सारी सेना को इकट्ठा करके उसने मास्को की ओर प्रयाण किया। क्रेमलिन राजमहल पर उसने कब्ज़ा कर लिया, किन्तु १८१२ के सितम्बर मास की पन्द्रहवीं तारीख की रात

के समय मास्को में भीषण आग लग गई और नेपोलियन ने अपनी सेनाओं को वापिस लौटने का हुक्म दिया।

अब रूसियों को उसकी विशाल सेना पर आक्रमण करने का अवसर मिल गया। कुछ वीरों को छोड़कर नेपोलियन की लगभग सारी सेना नष्ट कर दी गई। यूरोप के लोग अब नेपोलियन को घृणा की दृष्टि से देखने लगे।

रूसी फौजों से हार खाकर वह पैरिस लौटा। भूमध्यसागर के एल्बा नामक द्वीप में उसे देश निकाला देकर भेज दिया गया। उसका छोटा पुत्र गद्दी पर बिठाया गया। किन्तु उसके दुश्मनों और विरोधी शक्तियों ने लुई सोलहवें के भाई अठारहवें लुई को नेपोलियन के पुत्र के बदले गद्दी पर बिठाया।

यह नया राजा मूर्ख और आलसी था।

१ मार्च, १८१५ के दिन नेपोलियन फ्रान्स के दक्षिणी भाग में प्रविष्ट हुआ। लुई की सेना हताश हो गई। नेपोलियन ने पेरिस की ओर कूच किया और उस पर कब्जा कर लिया।

उसने अब अपने शत्रुओं से सन्धि करने की कोशिश की, परन्तु वे उसे बरबाद करने पर तुले हुए थे। १८१५ के जून महीने में उसने बेल्जियम की ओर प्रयाण किया और सेनापति ब्लूचर द्वारा संचालित जर्मन फौजों को हराया। उसकी फौज के सेनापति हराई हुई फौज को नष्ट करने से चूक गए। दो दिन पश्चात् नेपोलियन को वेलिंगटन के अँग्रेज ड्यूक से लड़ना पड़ा। उसकी जीत निश्चित दिखाई देती थी। अचानक कुछ घुड़सवारों के साथ ब्लूचर लौटा और उसने फ्रान्सीसी सेना में गड़बड़ी मचा दी। फ्रान्स के इस महान् महत्त्वाकांक्षी नेता का इस प्रकार अन्त हुआ। अपने दुश्मनों से उसने अच्छा व्यवहार प्राप्त करने की कोशिश की, परन्तु उसे सेण्ट-हेलेना नामक महाद्वीप में निर्वासित कर दिया गया जहाँ ६ वर्ष बाद उसकी मृत्यु हो गई।

अपनी मृत्यु के पूर्व तक बराबर उसका यह दावा था कि वह जन-क्रान्ति के सिद्धान्तों 'स्वतन्त्रता, भाईचारा और समानता' का सच्चा समर्थक रहा है।

नेपोलियन के निर्वासन के काल में उसके विजेताओं ने फ्रान्स की जन-क्रान्ति के अच्छे-अच्छे विचारों को समाप्त करने की कोशिश की। सारे नये विचारों का दमन करके उन्होंने शान्ति स्थापित करने की युक्ति निकाली। परिणामस्वरूप यूरोप के जेल-खाने उन लोगों से ठसाठस भर गए जो इसमें विश्वास करते थे कि जनता को अपने शासन में भाग लेने का अधिकार है।

[८]

किन्तु प्रत्येक राष्ट्र में स्वतन्त्रता के प्रेम ने जोर पकड़ा।

दक्षिणी-अमेरिका में स्पेन के राजा की प्रभुता को समाप्त करके स्वतन्त्र लोकतन्त्र की स्थापना हो गई थी। जब से कोलम्बस ने इस महाद्वीप का पता लगाया तब से इस विस्तृत प्रदेश पर स्पेन वालों का शासन था। आस्टिया, ब्रिटेन और रूस-जैसी यूरोप की महान् शक्तियाँ स्वतन्त्रता की इस विकसित भावना को रोकने में असमर्थ थीं। हर जगह एक नया जोश उमड़ रहा था। यूरोप के समस्त राष्ट्रों का वर्तमान स्वरूप उसमें से विकसित होकर हमारे सामने आया है। अँग्रेजों की क्रान्ति ने जिससे पार्लमेण्ट का विकास हुआ था अधिकतर लोगों के मन में अपना स्थान बना लिया था। इसी प्रकार अमेरिका की स्वतन्त्रता की घोषणा ने लोगों को प्रभावित किया। फ्रान्स की जन-क्रान्ति के नारों का भी प्रभाव बहुत व्यापक हुआ और इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी का अन्त एक नवीन आशा के जन्म की सूचना देकर हुआ। राजाओं का प्रभुत्व बहुत-कुछ सीमित हो चुका था और वास्तव में पार्ल-मेण्टरी या विधानगत-शासन का प्रारम्भ हो गया था।

इन सभाओं के सभासद अधिकतर व्यापारी और राजनीतिज्ञ थे। वे अपने अधिकृत देशों एशिया, अफ्रीका तथा दुनिया के अन्य भागों में "जनता का शासन, जनता द्वारा शासन और जनता के लिए शासन" के जनतांत्रिक उसूल को कार्य रूप में परिणत करने के लिए वास्तव में अधिक तत्पर नहीं थे, क्योंकि वे अपने-अपने देश में तैयार किया हुआ माल वहाँ बेचते थे और कपास, जूट, रबर, टीन तथा अन्य कच्चा माल वहाँ से लेते थे।

अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा ब्रिटेन ने इसका प्रारम्भ पहले किया था, जिन्होंने अपने साम्राज्य का बहुत अधिक विस्तार किया, जिसका एक भाग भारत भी था। अँग्रेजों ने डच, पुर्तगालियों और फ्रांसीसियों को हरा दिया। दुनिया के सारे भागों में इन राष्ट्रों के छोटे-छोटे उपनिवेश फिर भी शेष बचे रहे।

जर्मनी के पास कोई उपनिवेश न था। इस राष्ट्र के लोगों में संगठन देर से हुआ और ये अँग्रेजों के विरुद्ध अपनी प्रभुता जमाने में समर्थ न हुए थे। लेकिन इस बीच इन्होंने मशीन का उपयोग शुरू कर दिया था। फलतः वे अत्यधिक मात्रा में माल तैयार करने लगे। क्योंकि इतने अधिक माल की खपत इनके अपने देश में नहीं हो सकती थी, इसलिए जर्मनी के शासक हमेशा विदेशी बाजार और उपनिवेशों के लिए लालायित रहे।

इन उपनिवेशों में स्वयं चेतना का उदय हो रहा था। हमारे देश भारत में महान् राष्ट्रीय-संग्राम छिड़ गया। देश के कुछ श्रेष्ठ विचारकों ने स्वतन्त्रता की उत्कट अभिलाषा प्रकट की और अँग्रेजी शासन के विरुद्ध आवाज उठाने के परिणामस्वरूप जेल में ठूस दिये गए। तिलक, लाला लाजपतराय, महात्मा गांधी, मोती-लाल नेहरू, सी० आर० दास, जवाहरलाल नेहरू जैसे महापुरुषों के विचारों से देश की जनता का हृदय और मस्तिष्क पूर्णतः भर गया।

किन्तु यूरोप की शक्तियों ने हमारी स्वतन्त्रता की अभिलाषा को भुलाकर उसकी अवहेलना की। उनमें अभी भी लोभ बना हुआ था और वे आपस में लड़ने को तैयार थे।

[१०]

१९१४ ई० में जर्मनी के कैसर ने बेल्जियम पर आक्रमण किया और प्रथम विश्व-युद्ध का श्रीगणेश हुआ। ब्रिटेन, फ्रान्स, रूस और यूरोप की अन्य छोटी-बड़ी शक्तियाँ एक ओर थीं और जर्मनी दूसरी ओर। चार वर्षों के भयंकर संहार व विनाश के पश्चात् मित्रराष्ट्रों का दल विजयी हुआ और वर्साई नामक स्थान में सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर हुए।

युद्ध-काल में लेनिन के नेतृत्व में रूसी समाजवादियों और साम्यवादियों ने ज़ार नामक अपने राजा के अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह किया। उन्होंने रूस में एक नये साम्यवादी सोवियत् लोकतन्त्र की स्थापना की।

दुर्भाग्य से जर्मनी को बुरी तरह पंगु बनाया गया और उसे मित्रराष्ट्रों को भारी हरजाना चुकाना पड़ा। इस तरह उसे समृद्धि-शाली राज्य बनने से वंचित किया गया।

राष्ट्र-संघ जिसकी स्थापना मित्रराष्ट्रों ने की थी, शीघ्र ही चार या पाँच बड़ी शक्तियों द्वारा छोटे और बड़े अन्य सभी राष्ट्रों को निर्बल बनाए रखने का प्रधान साधन बन गया। कुछ काल तक सोवियत् रूस को भी मित्रराष्ट्रों द्वारा स्थापित राष्ट्र-संघ में

प्रतिनिधित्व नहीं मिला।

[११]

जर्मनी के धनी व्यक्तियों ने वर्साई की सन्धि के विरुद्ध विष उगला। अपने अधिकारों की जोरदार माँग करने के लिए उन्होंने अपनी सेना के एक भूतपूर्व उपनायक की सहायता ली।

मुसोलिनी के बहुत से विचारों को हिटलर ने अपनाया था। इटली के उस पत्रकार ने शक्तिशाली पुलिस और फौज की मदद से जन-साधारण के हित की उपेक्षा करके इटली में धनी लोगों का शासन स्थापित किया था। अपने भाषणों और विरोधियों के प्रति आग उगलने में हिटलर अपने गुरू से भी बढ़कर एक कदम आगे निकल गया था।

ब्रिटेन, फ्रान्स, स्पेन तथा अन्य जगहों के घृणित लोगों ने हिटलर की सहायता भी की, क्योंकि वह आधुनिक प्रबल शक्ति के रूप में तेजी के साथ विकसित होने वाले नये कम्युनिस्ट राष्ट्र रूस को नष्ट करने के लिए उसे उससे लड़ाना चाहते थे। साम्राज्य-वादियों ने जापानी धनी-वर्गों और युद्ध-लोलुप दलालों को चीन पर हमला करने के लिए उकसाया। वहाँ राजा को समाप्त कर दिया गया था और डा० सनयात्-सेन के नेतृत्व में लोकतन्त्र स्थापित हो चुका था।

एडल्फ हिटलर ने जर्मन स्थल-सेना और जल-सेना का संग-

ठन किया और दृढ़ वायु-सेना सुसज्जित की। उसने मुसोलिनी, जापान के फासिस्टों और जंगी शक्तिवादियों का गुट बनाया। १६३६ के सितम्बर मास में उन्होंने पोलेण्ड पर आक्रमण किया क्योंकि पोलेण्डवासी उन्हें डांज़िग नामक अपना बन्दरगाह नहीं देते थे। इस तरह द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो गया।

यह विश्व-व्यापी महायुद्ध लगातार सात वर्षों तक जारी रहा। वह प्रथम महायुद्ध से भी अधिक भयंकर था।

इसी महायुद्ध के दौरान में ब्रिटेन, फ्रान्स, अमेरिका, रूस और चीन का गठबन्धन हुआ।

बड़ी कठिनाइयों के पश्चात् हिटलर, मुसोलिनी और जापानी सेनाओं की पराजय हुई। इस महायुद्ध से संसार बुरी तरह से विकृत हुआ और उसे गहरे घाव लगे।

[१२]

संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति रूज़वेल्ट तथा ब्रिटेन के चर्चिल ने एक घोषणा-पत्र प्रसारित किया था कि सारे विश्व में स्वतन्त्रता स्थापित करने के लिए द्वितीय महायुद्ध लड़ा जा रहा है। इस घोषणा पत्र को 'एटलाण्टिक चार्टर' के नाम से पुकारा गया था। महात्मा गांधी ने ब्रिटिश सरकार तथा पश्चिमी राष्ट्रों से भारत तथा अन्य उपनिवेशों में 'एटलाण्टिक चार्टर' के विचारों को कार्य-रूप में परिणत करने की जोरदार माँग की, क्योंकि भारत, हिन्देशिया, बर्मा, लंका, मलाया इत्यादि प्रदेशों में अँग्रेज करीब-करीब वैसा ही कार्य कर रहे थे जैसा कि हिटलर और मुसोलिनी ने जर्मनी और इटली में किया था। अँग्रेज सरकार ने जोरदार माँग और चुनौती का उत्तर गांधी और नेहरू सहित उच्च श्रेणी के समस्त अग्रगण्य नेताओं को कैद करके दिया।

[१३]

दूसरे महायुद्ध के पश्चात् भारतीय चुपचाप न बैठे रह सके।

अंग्रेजों से अपने देश की स्वतन्त्रता की माँग की। अतः भारत छोड़ने के लिए अँग्रेजों पर दबाव डाला गया। 'फूट डालो और राज्य करो' अपनी नीति के आधार पर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का विभाजन करके उन्होंने भारत छोड़ा। लेकिन अब अगस्त सन् १९४७ से हम स्वयं अपने देश के स्वामी हो गए हैं और हम लोग मनुष्य मात्र में परस्पर शान्ति और सद्भावना के विचारों को फैलाने में संलग्न हैं, जिन्हें हम लोगों ने उज्ज्वलतर भूतकाल से परम्परागत पाया है।

[१४]

यह दुख की बात है कि वे बड़ी शक्तियाँ, जिन्होंने संयुक्त-राष्ट्र संघ का संगठन युद्ध के पश्चात् विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिए किया था, अब शब्दों और धमकियों का निष्क्रिय युद्ध छेड़ दिया है और अब आपस में गुस्से से एक दूसरे की ओर दाँत पीस रहे हैं।

निष्क्रिय युद्ध के नारों ने लोगों को यह समझने से रोक रखा है कि अच्छी सरकार का वास्तविक शत्रु विश्व के अधिकांश लोगों की भूख और गरीबी है। हथियारों की शक्ति के बल पर कम्युनिज्म को हराने का सिद्धान्त, जिसका अनुगमन पश्चिम के कुछ राष्ट्र कर रहे हैं, एशिया और अफ्रीका के उपनिवेशों में बसने वाले लोगों की स्वतन्त्रता की आन्तरिक पुकार को व्यक्त करने से रोकता है।

इस निष्क्रिय युद्ध में हमारे देश के लोग तटस्थ

होने का निश्चय कर चुके है और हमारे प्रधान मन्त्री ने निरन्तर इस ओर कोशिश और कठिन यत्न किया है कि सारी बड़ी शक्तियाँ इकट्ठी हों ताकि उनसे पारस्परिक मतभेदों पर वादविवाद किया जा सके और संसार में शान्ति का वातावरण तथा मानसिक स्थिति उत्पन्न हो। भारत में दीर्घकालीन शान्ति के बिना देश के लोगों को अच्छा भोजन, मकान, वस्त्र और अच्छी सरकार के सुलभ होने की कोई आशा नहीं हो सकती।

सारी दुनिया पर जो अन्धकार छा गया है उसे दूर करना है। इन्सान बहुत प्रगति कर चुका है। एटम बम और हाइड्रोजन बम से वह अपना सर्वनाश नहीं होने देगा। एक अच्छे संसार का निर्माण वह कर सकता है और अवश्य करेगा।

आशा है कि इन्सान की यह कहानी प्रकाश की किरणों को बिखेरेगी और घिरे हुए अन्धकार के आवर्त को चीरने में सहायक सिद्ध होगी। इस कहानी की ज्योति आपकी आँखों की रोशनी बनकर चमके। आपकी आशापूर्ण उत्सुक आँखें ही हमारे उज्ज्वल भविष्य की प्रतीक है।